

कक्षा
11-12

कक्षा
11-12

fgah | kfgR dk
l &kr bfr gk

fgah | kfgR dk | &kr bfr gk



हिंदी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास

(आदिकाल से आधुनिक काल तक)

कक्षा 11 एवं 12 के लिए हिंदी साहित्य की पाठ्यपुस्तक



माध्यमिक शिक्षा बोर्ड राजस्थान, अजमेर

पाठ्य पुस्तक निर्माण समिति

पुस्तक – हिन्दी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास
कक्षा 11 एवं 12 के लिए

संयोजक :- डॉ० आशीष सिसोदिया, सहायक आचार्य
हिंदी विभाग, मोहनलाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय,
उदयपुर

लेखकगण :- 1. डॉ० मगनलाल शर्मा 'विक्रम', व्याख्याता
राजकीय कन्या महाविद्यालय, सवाईमाधोपुर
2. डॉ० संजय कुमार लक्की, व्याख्याता
शहीद कैप्टन रिपुदमन सिंह राजकीय स्नातकोत्तर
महाविद्यालय, सवाईमाधोपुर
3. रामानंद चौधरी, प्रधानाध्यापक
उच्च माध्यमिक आदर्श विद्या मंदिर आदर्शनगर,
जयपुर

आभार

सम्पादकमंडल एवं माध्यमिक शिक्षा बोर्ड राजस्थान, अजमेर उन सभी लेखकों का आभार एवं कृतज्ञता व्यक्त करता है जिनके अमूल्य सृजन एवं विचार इस पुस्तक में सम्मिलित किये गये हैं।

यद्यपि इस पुस्तक में मुद्रित समस्त सामग्री का स्वत्वाधिकार का ध्यान रखा गया है फिर भी यदि कुछ अंश रह गये हों तो यह सम्पादक मंडल इसके लिए खेद व्यक्त करता है। ऐसे स्वत्वाधिकारी से सूचित होने पर हमें प्रसन्नता होगी।

आमुख

माध्यमिक शिक्षा बोर्ड, राजस्थान, अजमेर की पाठ्यपुस्तक प्रकाशन की योजना के अन्तर्गत राजस्थान के विद्यालयों में कक्षा 11 एवं 12 के वैकल्पिक विषय हिंदी साहित्य के पाठ्यक्रमानुसार यह 'हिंदी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास' पुस्तक तैयार की गई है। इसमें हिंदी साहित्य की विकास-यात्रा के चार काल खण्डों आदिकाल, भक्तिकाल, रीतिकाल और आधुनिककाल की सामान्य प्रवृत्तियों, कवियों एवं विशिष्टताओं का परिचय प्रस्तुत किया गया है।

इतिहास केवल तथ्यों के संकलन और प्रस्तुतीकरण का नाम नहीं है; अपितु वह इससे आगे बढ़कर तथ्यों के विशिष्ट संयोजन और मूल्यांकन में अपना अर्थ प्राप्त करता है। हर नया काल-खंड अपने निर्माण में विगत काल-खंडों का ऋणी रहता है क्योंकि अनागत के निर्माण में विगत की घटनाएँ अपने परिणामों-प्रभावों के रूप में अन्तर्निहित रहकर महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। इस दृष्टि से यदि हिंदी साहित्य का आदिकाल भारतीय साहित्य की अपनी पूर्व परंपराओं का उत्तराधिकारी है, तो भक्तिकाल आदिकाल का। इसी प्रकार रीतिकालीन साहित्यिक-अभिरुचि पर भक्तिकालीन साहित्यिक आकांक्षाओं का प्रभाव है। प्रस्तुत पुस्तक में विकास की इस गति को उभारने का प्रयास सूक्ष्मतः किया गया है।

इस पुस्तक को छात्रोपयोगी बनाने में लेखक मण्डल ने पूर्ण मनोयोग से कुछ हटकर नवीन जानकारी उपलब्ध कराने का यथासंभव प्रयास किया है। इस पुस्तक में पूर्व में लिखे गए महत्त्वपूर्ण इतिहास ग्रंथों से भी सामग्री जुटाई गई है। आशा है कि यह पुस्तक विद्यार्थियों की साहित्यिक जानकारी में तो वृद्धि करेगी ही; साहित्य के प्रति उनकी रुचि का विकास भी करेगी। इस पुस्तक को और अधिक सार्थक बनाने की दृष्टि से विज्ञानों के परामर्श का हम स्वागत करते हैं।

लेखक-मंडल

अनुक्रमणिका

अध्याय		विषय	पृष्ठ
प्रथम	—	आदिकाल	1—31
द्वितीय	—	भक्तिकाल	32—75
तृतीय	—	रीतिकाल	76—97
चतुर्थ	—	आधुनिककाल	98—146

1. आदिकाल

(सन् 993 ई० से 1318 ई० तक)

हिन्दी साहित्य की पूर्व पीठिका :-

हिंदी भारत में सर्वाधिक बोले जाने वाली भारतीय आर्य भाषाओं में सर्वोपरि है। भारतवर्ष को प्राचीन काल में आर्यावर्त के नाम से जाना जाता था और यहाँ के निवासियों को आर्य तथा आर्यों द्वारा बोले जाने वाली भाषाओं को आर्य भाषाओं के नाम से जाना जाता था। पृथ्वी के मानचित्र में भारत की स्थिति एक प्रायद्वीप के समान है। इसके उत्तर में हिमाच्छादित हिमालय तथा सुदूर दक्षिण में अथाह अपार सागर हिलोरे ले रहा है, जिसकी महान् संस्कृति ने वैदिक संस्कार, सदाचार एवं सुव्यवस्थित सुदृढ़ सामाजिक परम्पराओं को जन्म दिया है। सहिष्णुता भारतीय संस्कृति का सबसे बड़ा गुण है। जो समुद्र की भाँति अनेक नदियों की धाराओं को अपने अन्दर धारण करने की क्षमता रखती है। यहाँ अनेक जाति धर्म के लोगों ने आक्रमण किया, किन्तु सब मिट गए और भारतीय संस्कृति आज भी अमिट है। यह संस्कृति हमारी परम्पराओं को नवजीवन प्रदान करती है, जिसके फलस्वरूप आज भी यह नवनूतन लगती है। यहाँ राजनीतिक सामाजिक एवं आर्थिक सभी परिस्थितियों में उतार-चढ़ाव आए, किन्तु इसकी सहिष्णुता की नीति से यह सदैव विजयी रही है। हिन्दी साहित्य में भक्ति, वीर और शृंगार का त्रिवेणी संगम दृष्टिगोचर होता है। इसमें भक्ति की धारा के संग ओजस्वी शैली के रासो साहित्य तो कहीं महाकवि बिहारी की नायिका का अद्भुत शृंगार और कहीं घनानन्द के वियोग भरे कवित्त के साथ-साथ भूषण का राष्ट्रप्रेम उजागर होता है। भारत की इस पावन भूमि में धर्म, संस्कृति और संस्कारों की अजस्र धारा प्रवाहित होती है, जो जनजीवन को अमृतमय जीवन प्रदान कर रही है। यहाँ के कवि लेखक स्वान्तःसुखाय के साथ-साथ परिजन हिताय साहित्य का सृजन करते हैं। कवियों में तुलसी, सूर, जायसी और कबीर अपनी वाणी से जनसमूह को भक्ति और प्रेम की धाराओं से आनन्दित करते हैं तो भारतेन्दु, प्रेमचन्द और जयशंकर प्रसाद अपने साहित्य के द्वारा राष्ट्रप्रेम को अभिव्यक्त करते हैं। इस प्रकार के गौरवान्वित साहित्यकारों पर हम भारतीयों को गर्व है क्योंकि साहित्य को "सुरसरि सम सब कर हित होई" बताया जाता है।

हिन्दी शब्द की व्युत्पत्ति -

हिन्दी शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत भाषा के "सिन्धु" शब्द से मानी जाती है। सिन्धु नदी के आस-पास का क्षेत्र सिन्धु प्रदेश कहलाता था। ईरान (फारस) की तरफ से भारत में आने वाले विदेशी आक्रमणकारी हिन्दुकुश पहाड़ी मार्ग को पार करके जब सिन्धु प्रदेश में आए तो उन्होंने सिन्धु प्रदेश को हिन्द प्रदेश कहा; क्योंकि ईरानी (फारस) भाषा में शब्द की प्रथम 'स' ध्वनि को 'ह' ध्वनि में उच्चारित करते हैं। अतः सिन्धु प्रदेश को हिन्दप्रदेश कहने लगे और वहाँ के निवासियों को सिन्धु के स्थान पर हिन्दु कहने लगे। यही सिन्धु की भाषा हिन्द कहलाने लगी और आगे चलकर ईरानी भाषा का ईक प्रत्यय लगने के कारण हिन्द + ईक -हिन्दीक बन गया जिसका अर्थ हिन्द का हुआ। यही शब्द धीरे-धीरे परिवर्तित होकर हिन्दीका हुआ जो अंग्रेजी भाषा के

रूपान्तरण के कारण 'इण्डिया' बन गया । आज यह "इण्डिया" समस्त भारतवर्ष का सूचक बन गया है ।

हिन्दी भाषा का उद्भव और विकास –

भारतीय भाषा का प्राचीनतम ग्रंथ ऋग्वेद है । ऋग्वेद की भाषा संस्कृत थी, किन्तु समयचक्र सदैव गतिमान होने के कारण परिवर्तनशील है । अतः भाषा भी धीरे-धीरे अनेक रूपों में परिवर्तित होने लगी । संस्कृत भाषा का समय 1500 ईसा पूर्व से 500 ईसा पूर्व का रहा । यह दो प्रकार की थी । पहली वैदिक संस्कृत जिसमें वेद, उपनिषद्, आरण्यक, ब्राह्मण एवं दर्शन आदि की रचना हुई व दूसरी लौकिक संस्कृत जिसमें रामायण और महाभारत इत्यादि की रचना हुई । यही लौकिक संस्कृत बोलचाल की भाषा के रूप में विकसित हुई और धीरे-धीरे पाली भाषा के रूप में प्रचलित हुई । जिसका समय 500 ईसा पूर्व से ईसा की पहली शताब्दी तक माना गया । इस भाषा में बौद्ध धर्म के विनयपिटक, सूत्तपिटक, अभिधम्मपिटक एवं जातक कथाओं की रचना हुई, किन्तु भाषा के दो रूप सदैव प्रचलित रहे । पहला रूप साहित्यिक, दूसरा लौकिक अर्थात् बोलचाल की भाषा । लौकिक भाषा में धीरे-धीरे साहित्यिक रचनाएँ होने लगती हैं । जब कोई भाषा कवि और लेखकों का आश्रय पाकर नवीन भाषा में परिवर्तित हो जाती है तो साहित्यिक भाषा का रूप धारण कर लेती है । पाली भाषा में भी ऐसा ही हुआ । वह समय के अनुसार प्राकृत का रूप धारण करने लगी । प्राकृत का समय ईसा की पहली शताब्दी से लेकर 500 ईस्वी के बाद तक रहा । इस काल में जैन साहित्य प्रचुर मात्रा में रचा गया । प्राकृत के समय जनपदों में क्षेत्रानुसार भाषा का प्रचार हुआ । यहीं से प्राकृत भाषा अपभ्रंश के रूप में प्रसारित हुई । विद्वानों ने प्राकृत भाषा के अन्तिम चरण में अपभ्रंश का उद्भव माना है क्योंकि तत्कालीन प्रचलित शब्दों से यह पता चलता है कि प्राकृत के उत्तरार्द्ध में शब्दों में विकृति (बिगड़ना) आना शुरू हो गया । जैसे गाथा शब्द गाहा और दोहा शब्द दूहा के रूप में परिवर्तित हो गए । अपभ्रंश के समय देशी भाषायुक्त थोड़ी सरलता एवं मधुरता वाली भाषा का भी अभ्युदय हुआ उसे "अवहट्ट" भाषा कहने लगे । मैथिल कोकिल विद्यापति ने इसी भाषा में अपनी दो रचनाएँ लिखी । पहली "कीर्तिलता" और दूसरी "कीर्तिपताका" ये दोनों अवहट्ट की कृतियाँ हैं ।

जैसे :-

देसिल बअना सब जन मिठ्ठा ।

ते तैसन जपहो अवहट्टा ॥

अपभ्रंश भाषा के विभिन्न क्षेत्रीय रूपों एवं बोलियों से ही हिन्दी भाषा का उद्भव हुआ । अपभ्रंशभाषी कवियों एवं दार्शनिकों, सिद्धाचार्यों, जैनाचार्यों एवं नाथ समुदाय के अनुयायियों से ही अपभ्रंश भाषा का प्रचार एवं प्रसार हुआ । हर्षवर्द्धन के शासन काल के पश्चात् अपभ्रंश का प्रचार तेज गति से बढ़ा । अतः हिन्दी का प्रारम्भिक काल अपभ्रंश साहित्य में ही दिखाई दिया ।

इसी काल के चौरासी सिद्धों में हिन्दी का रूप निखर करके आया । आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने हिन्दी को ग्राम्य अपभ्रंश का विकसित रूप माना है । तत्कालीन सिद्धाचार्यों ने लोक भाषा में ही लिखना प्रारम्भ किया, क्योंकि कोई कविता या काव्य रचना जनभाषा में लिखने से ही बहुश्रुत

बनती है और ख्याति प्राप्त करती है । अपभ्रंश भाषा के हेमचन्द्राचार्य ने सबसे पहले अपभ्रंश भाषा का व्याकरण “शब्दानुशासन” लिखा, किन्तु हेमचन्द्राचार्य से पूर्व ही सिद्धाचार्यो ने अपनी रचनाएँ प्रस्तुत कर दी थीं । अपभ्रंश भाषा का इतिहास बताता है कि हिन्दी अपभ्रंश के आँचल में पली बड़ी। यही प्रारम्भिक हिन्दी की बुनियाद है। उदयनारायण तिवारी ने लिखा, आचार्य हेमचन्द्र के पश्चात् 13वीं शताब्दी के प्रारम्भ में आधुनिक भारतीय भाषाओं के अभ्युदय के समय 15वीं शताब्दी के पूर्व तक का काल संक्रान्ति काल था। जिसमें भारतीय आर्य भाषाएँ धीरे-धीरे अपभ्रंश की स्थिति को छोड़कर आधुनिक काल की विशेषताओं से युक्त होती जा रही थीं। मिश्रबंधुओं ने अपने “मिश्रबंधु विनोद” में हिन्दी साहित्य के आदिकाल की विवेचना करते हुए अपभ्रंश के साहित्य को प्रधान स्थान दिया। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी साहित्य के इतिहास में अपभ्रंश और प्राकृत की अन्तिम अवधारणा से ही हिन्दी साहित्य का आविर्भाव माना। डॉ. नामवर सिंह ने लिखा है, देश धीरे-धीरे इतना बढ़ा कि 13वीं सदी तक आते-आते अपभ्रंश के सहारे से ही पूर्व और पश्चिम के देशों ने अपनी बोलियों का स्वतंत्र रूप प्रकट कर लिया । इसके भौगोलिक परिप्रेक्ष्य को देखें तो लगता है हिन्दी का क्षेत्र दो भागों में बँट गया । प्रथम पश्चिमी हिन्दी और द्वितीय पूर्वी हिन्दी । अपभ्रंश का साहित्य हिन्दी के जन्म का कारण बना । हिन्दी साहित्य की परम्परा को देखें तो डॉ. नगेन्द्र के अनुसार अपभ्रंश से ही क्षेत्रीय रूपों में परिवर्तित होने वाली बोलियों से हिन्दी का रूप विकसित हुआ है । अपभ्रंश अर्थात् शौरसेनी अपभ्रंश, पैशाची, ब्राचड़, महाराष्ट्री, मागधी और अर्धमागधी के रूपों में प्रसारित हो रही थी। इनकी उपभाषाएँ एवं मुख्य बोलियों से ही हिन्दी का उद्भव माना गया है। जिसका सामान्य परिचय इस प्रकार है । अपभ्रंश की क्षेत्रीय भाषाएँ जिनसे हिन्दी का उद्भव हुआ :-

1. शौरसेनी अपभ्रंश
 2. मागधी अपभ्रंश
 3. अर्धमागधी अपभ्रंश
- शौरसेनी अपभ्रंश की उपभाषाएँ एवं बोलियाँ ।

उपभाषाएँ

1. पश्चिमी हिंदी
2. पूर्वी हिंदी
3. राजस्थानी
4. पहाड़ी
5. बिहारी

बोलियाँ

- खड़ीबोली (कौरवी), ब्रजभाषा, बुन्देली,
हरियाणवी (बांगरू), कन्नौजी
- अवधी, बघेली, छत्तीसगढ़ी
- मारवाड़ी, जयपुरी, मेवाती, मालवी
- पश्चिमी पहाड़ी, मध्यवर्ती पहाड़ी
- मैथिली, मगही, भोजपुरी

इस प्रकार हिंदी में पाँच उपभाषाएँ और अठारह बोलियाँ सम्मिलित हैं।

1. खड़ीबोली – पश्चिमी हिन्दी की बोलियों में पहला स्थान खड़ी बोली का है । प्राचीन काल में हस्तिनापुर में कौरव वंश का शासन होने से इसको (कौरवी) भी कहते हैं। दिल्ली, गाजियाबाद, देहरादून, मुरादाबाद, सहारनपुर के आस पास के क्षेत्र में यह बहु प्रचलित बोली रही इसमें लोक नाटक, कहानी, लोककाव्य व गीत आदि की रचनाएँ हुई । यह देवनागरी लिपि में लिखी जाने लगी। मध्यकाल में आते-आते इसमें अरबी , फारसी के शब्द भी सम्मिलित हो गए

और यह हिन्दुस्तानी के नाम से जानी गई । इसमें संस्कृत की तत्सम शब्दावली का बाहुल्य है । यह ठेट हिंदी की सबसे निकट की बोली है । वर्तमान में हिन्दी काव्य इस खड़ी बोली में ही लिखा जा रहा है ।

2. हरियाणवी – हरियाणा प्रदेश की बोली होने के कारण इसे हरियाणवी कहते हैं । यह चंडीगढ़ के आस-पास पटियाला, अम्बाला, हिसार व रोहतक के क्षेत्र में बोली जाती है । कहीं-कहीं इसमें पंजाबी भाषा का पुट भी आ गया; क्योंकि यह पंजाब प्रान्त के निकट है । यहाँ के लोक साहित्य में यह बहुत प्रचलित है, इसे ग्रामीण क्षेत्र में बाँगरू के नाम से भी जाना जाता है ।

3. कन्नौजी – कानपुर के आस-पास का क्षेत्र कन्नौज प्रदेश कहलाता है । इसका प्रभाव कानपुर, पीलीभीत, इटावा, शाहजहाँपुर, फर्रुखाबाद व हरदोई क्षेत्र में है । ब्रज भाषा के शब्दों के समान शब्द एवं बोलने का लहजा होने कारण इसको ब्रज जैसी ही समझते हैं ; किन्तु यह ब्रज भाषा से भिन्न है । यहाँ कान्यकुब्जी ब्राह्मणों का बाहुल्य था । इसलिए इसे कन्नौजी भी कहते हैं ।

4. ब्रजभाषा – ब्रज मण्डल मथुरा वृन्दावन की प्रमुख बोली होने के कारण इसे ब्रज भाषा कहते हैं । शौरसेनी अपभ्रंश का मध्यवर्ती रूप इसमें झलकता है, क्योंकि शूरसेन प्रदेश की यह प्रमुख बोली रही है । ब्रज का क्षेत्र विस्तार विशाल है—आगरा, अलीगढ़, बरेली, मथुरा, एटा, मैनपुरी, धोलपुर व भरतपुर आदि इस क्षेत्र में आते हैं । हिन्दी जगत में ब्रज का साहित्य अधिक लोक प्रिय होने कारण यह लोगों में बहु प्रचलित है । सूरदास, नन्ददास, केशव, बिहारी, धनानन्द, पदमाकर, देव तथा अष्टछाप व अन्य कवियों की रचनाएँ इसी ब्रजभाषा से मंडित है । यह मन को मोहने वाली मीठी बोली होने के कारण जनप्रिय हो गई ।

5. बुन्देली – बुन्देल राजाओं के बुन्देल खण्ड की बोली होने के कारण इसे बुन्देली कहते हैं । इसका प्रदेश ओरछा, झांसी, छतरपुर, सागर, ग्वालियर, होशंगाबाद व हम्मीरपुर के आस पास का क्षेत्र है । बुन्देली में लिखी गई “आल्हा खण्ड” एक सुप्रसिद्ध रचना है । उसकी ओजस्वी शैली मन में जोश भर देती है, “आल्हा” की शब्दावली बुन्देली से काफी मिलती-जुलती है ।

6. अवधी – पूर्वी हिन्दी की बोलियाँ में सबसे पहला स्थान अवधी का है । यह अयोध्या के आस-पास की बोली है । अयोध्या का वर्तमान नाम अवधप्रदेश है । तुलसी की ‘रामचरितमानस’ अवधी की प्रसिद्ध कृति है । इसका प्रसार अयोध्या, सुल्तानपुर, प्रतापगढ़, सीतापुर, फैजाबाद व बाराबंकी आदि क्षेत्रों में है । तुलसी और जायसी इस भाषा के प्रसिद्ध कवियों में गिने जाते हैं । सूफ़ी कवियों की रचनाएँ अवधी में ही रची गई हैं । जैसे :- मुल्लादाऊद की चन्दायन, कुतबन की मृगावती, मंझन की मधुमालती व जायसी की पदमावत । ये रचनाएँ अवधी में ही रची गई हैं ।

7. बघेली – रीवां क्षेत्र में कभी बघेल राजाओं का साम्राज्य रहा था । इसलिए इसे बघेल खण्ड के नाम से जानते हैं और यहाँ बोले जाने वाली बोली को बघेली कहते हैं । अर्धमागधी अपभ्रंश की पूर्वी हिन्दी से इसकी उत्पत्ति मानते हैं । यह रीवा, सतना, मेहर, नागौद व जबलपुर में बोली जाती है । कुछ भाषा वैज्ञानिक इसे अवधी की एक उपबोली मानते हैं ।

8. छत्तीसगढ़ी – मध्यप्रदेश का कुछ हिस्सा छत्तीसगढ़ कहलाता है । इसे अलग राज्य का दर्जा भी मिल गया है। यह बिलासपुर, रायपुर, दुर्ग, काकेर एवं नंदगाँव के आस-पास बोली जाती है । छत्तीसगढ़ का लोकसाहित्य अपने आस-पास के अंचल में ही प्रचलित है । इसका कोई विशिष्ट साहित्य उपलब्ध नहीं है ।

9. मारवाड़ी – (पश्चिमी राजस्थानी) राजस्थान प्रदेश के पश्चिम क्षेत्र में मारवाड़ी के नाम से बोली जाती है । जैसे- जोधपुर, फलोदी, जैसलमेर, बीकानेर, नागौर, पाली, सिरोही, अजमेर व किशनगढ़ के कुछ हिस्से तक यह बोली जाती है। लोकसाहित्य में मीरा के पद तथा रासो साहित्य (डिंगल भाषा में) पाया जाता है ।

10. जयपुरी – (ढूंढाड़ी) राजस्थान के पूर्वी भाग जयपुर, टोंक, डिंगी, मालपुरा, किशनगढ़ आदि में इसे ढूंढाड़ी कहते हैं। इसकी एक शाखा हाड़ौती के नाम से जानी जाती है, जो झालावाड़, कोटा, बाँरा (हाड़ौती क्षेत्र) में बोली जाती है । इसमें लोक साहित्य भी प्रचुर मात्रा में मिलता है ।

11. मेवाती – उत्तरी राजस्थान में मेव जाति के इलाके में यह प्रतिनिधि बोली है । इस प्रदेश को मेवात क्षेत्र भी कहते हैं । इसका विस्तार अलवर, भरतपुर, गुड़गाँव व करनाल आदि में हैं । मेवात प्रदेश की बोली होने के कारण इसे मेवाती कहते हैं । इसकी एक मिश्रित बोली भी है जिसे अहीरवाटी भी कहते हैं ।

12. मालवी – राजस्थान के दक्षिणी भाग मालवा प्रदेश में यह मालवी के नाम से जानी जाती है । इसका क्षेत्र उदयपुर, चित्तौड़गढ़, मध्यप्रदेश की सीमा से लगे इन्दौर, रतलाम, भोपाल, देवास, होशंगाबाद तथा उसके आस-पास का क्षेत्र है। शौरसेनी अपभ्रंश से विकसित इस बोली का लोक साहित्य पर्याप्त मात्रा में पाया जाता है ।

13. भोजपुरी – बिहार राज्य के भोजपुर क्षेत्र के आधार पर इस बोली का नामकरण किया गया । इसका विकसित रूप बनारस, शाहाबाद, आजमगढ़, गोरखपुर, बलिया, मिर्जापुर, जौनपुर, चम्पारण व सारण के आस-पास का क्षेत्र है। इसका मुख्यतः लोक साहित्य मिलता है, किन्तु हिन्दी जगत् के सितारे भारतेन्दु हरिश्चन्द्र , प्रेमचन्द व जयशंकर प्रसाद इसी क्षेत्र के रहने वाले थे ।

14. मगही – बिहार के मगध प्रदेश की बोली होने के कारण इसका नाम मगही है । मागधी अपभ्रंश की यह विकसित बोली है । यह पटना, भागलपुर, हजारीबाग, गया, पलामू के आस-पास बोली जाती है । इसमें लोक साहित्य बहुत लिखा गया है ।

15. मैथिली – यह मागधी अपभ्रंश की विकसित बोली है । इस का क्षेत्र मिथला प्रदेश होने के कारण इसे मैथिली कहा गया । यह दरभंगा, पूर्णिया, मुंगेर व मुजफ्फरपुर में बोली जाती है । यहाँ का साहित्य बहुत सम्पन्न है । यह वाणी मधुरता के कारण बहुत मीठी है । विद्यापति जैसे कवि यहाँ के रससिद्ध कवि थे । गोविन्ददास, हरिमोहन झा तथा रणजीत लाल इसके प्रसिद्ध साहित्यकार रहे हैं ।

16. पश्चिमी पहाड़ी – यह शौरसेनी अपभ्रंश की विकसित बोली है । यह हिमाचल प्रदेश में शिमला, मण्डी, धर्मशाला व अम्बाला के आस-पास के क्षेत्र में बोली जाती है ।

17. मध्यवर्ती पहाड़ी (गढ़वाली, कुमाऊँनी) – इस बोली का क्षेत्र गढ़वाल प्रदेश है । यह गढ़वाल व कुमाऊँ में बोली जाती है । छायावाद के प्रसिद्ध कवि सुमित्रानन्दन पंत इसी क्षेत्र के हैं । मध्यवर्ती पहाड़ी क्षेत्र की बोली होने के कारण इसे मध्यवर्ती पहाड़ी के नाम से जाना जाता है । यह शौरसेनी अपभ्रंश से विकसित हुई है । उत्तरांचल का कुमाऊँ क्षेत्र कुमाऊँनी बोली का क्षेत्र है । नैनीताल, अल्मोड़ा, रानीखेत में यह बोली जाती है ।

हिन्दी साहित्य के इतिहास का प्रयोजन –

साहित्य के इतिहास लेखन का मूल प्रयोजन साहित्य की प्रवृत्तियों एवं उसकी उपलब्धियों को जनता तक पहुँचाना है । उसके आन्तरिक और बाह्य संघर्ष की गाथा को सरल व सुबोध भाषा में वर्णित करना है । साहित्य की प्रेरक शक्तियों के साथ आन्तरिक भाव सामन्जस्य बिठाना है तथा जीवन को गति प्रदान करने वाले साहित्य की समाज में क्या भूमिका है, उसे बतलाना एवं राजनीतिक, सामाजिक व सांस्कृतिक परिस्थितियों का दिग्दर्शन कराना साहित्य इतिहास का प्रयोजन होता है । इतिहास शब्द 'इति' और 'हास' से बना है, जिसका अर्थ है "ऐसा-ही-था" यदि साहित्य के इतिहास को साहित्यिक दिग्दर्शन कहा जाए तो अनुचित नहीं होगा, क्योंकि यह वर्तमान और अतीत के पक्षों को उजागर करता है और हिन्दी साहित्य के इतिहास में हिन्दी का मूल उद्गम और उसके क्रमिक विकास को समझाता है । साहित्य का इतिहास अपने विकास क्रम का अध्ययन करता है और समाज का ध्यान केन्द्रित करता है । साहित्य का कालक्रम, नामकरण, उसमें योगदान देने वाले कवि-लेखकों का सहयोग व तत्कालीन परिस्थितियों का अध्ययन करता है, जो समाज के लिए अतिआवश्यक है, क्योंकि उसके द्वारा विकास क्रम के सोपानों और स्तरों को आसानी से समझ सकते हैं । तत्कालीन कवियों की काव्य कला व भाषा शिल्प से परिचय होता है, जो आगामी पीढ़ी के लिए प्रेरणादायक है । अतः साहित्य का इतिहास कवि एवं लेखकों की काल सम्बंधी विवेचना करते हुए उनकी कृतियों का भी विश्लेषण करता है । अतः साहित्य के इतिहास का मूल प्रयोजन विगत युगों की साहित्यिक प्रवृत्तियों का दिग्दर्शन करना है, क्योंकि साहित्य का इतिहास मानव की चित्तवृत्तियों का चित्रण तथा समसामयिक परिवेश का विवरण प्रस्तुत करता है । जिस प्रकार समाज साहित्य को प्रभावित करता है । ठीक उसी प्रकार साहित्य भी समाज को प्रभावित करता है । इसीलिए साहित्य समाज का दर्पण कहलाता है ।

हिन्दी साहित्य के इतिहास के स्रोत –

इतिहास सदैव साक्ष्य की खोज करता है वह प्रमाणित साक्ष्य प्राप्त होने पर आगे बढ़ता है । यही उसकी आधार सामग्री है । यह साक्ष्य दो प्रकार के होते हैं । पहला अन्तःसाक्ष्य दूसरा बाह्य साक्ष्य । अन्तःसाक्ष्य के अन्तर्गत उपलब्ध सामग्री में आधारभूत कृतियों एवं ग्रंथों, कवि एवं लेखकों की फुटकर प्रकाशित एवं अप्रकाशित रचनाएँ होती हैं । बाह्य साक्ष्य के अन्तर्गत ताम्रपत्रावली, शिलालेख, वंशावलियाँ, जनश्रुतियाँ, कहावतें, ख्यात एवं वचनिकाएँ जैसी सामग्री होती है । जो तत्कालीन युग को परिलक्षित करती है । हिन्दी साहित्य में भी अंतः और बाह्य स्रोतों के माध्यम से इतिहास लेखन प्रारम्भ हुआ । जिसमें गोकुलनाथ द्वारा रचित चौरासी वैष्णवन की वार्ता और दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ताएँ, नाभादास कृत भक्तमाल, ध्रुवदास कृत भक्त नामावली एवं सन्तवाणी

संग्रह, भिखारीदास कृत "काव्य निर्णय" तथा अन्य कृतियाँ कविनामावली, मोदतरंगिनी, शृंगार संग्रह, हरिश्चन्द्र कृत 'सुन्दरी तिलक', मातादीन मिश्र का "कवित्त रत्नाकर" में कई कवियों की कविताओं का परिचय मिलता है । इस प्रकार अन्तः साक्ष्य प्रकाशित रचनाओं एवं अप्रकाशित रचनाओं का संग्रह होता है । बाह्य साक्ष्य के माध्यम से इतिहासकार अपनी पैनी दृष्टि से तत्कालीन परिस्थितियों की खोज कर लेता है । कर्नल टॉड द्वारा लिखा गया राजस्थान का इतिहास में चारण कवियों का तथा काशी नागरी प्रचारिणी सभा की खोज रिपोर्ट में अज्ञात कवियों एवं लेखकों का परिचय मिलता है । मोतीलाल मेनारिया ने राजस्थान में हिन्दी के हस्त लिखित ग्रंथों की खोज की तथा हिन्दुओं के धार्मिक दर्शन के सिद्धांतों को निरूपित करते हुए उस समय के कवि लेखकों एवं आचार्यों के विचारों की भी समीक्षा की है । जनश्रुतियों से तात्पर्य है जनता में प्रचलित बातें जिसमें सत्य का अंश छिपा रहता है । यह कई वर्षों तक लोगों की जीभ पर रहती है, किन्तु धीरे-धीरे लिपिबद्ध हो जाती है । उनमें कवि की जीवन सम्बन्धी घटनाओं का योग होता है तथा प्राचीन ऐतिहासिक शिलालेखों के आधार पर उस युग का चित्रण मिलता है । इस प्रकार की आधारभूत सामग्री के मूल स्रोतों के माध्यम से ही इतिहास लेखन होता है । अतः यह लिपि बद्ध होकर एक ऐतिहासिक ग्रंथ बन जाता है ।

हिन्दी साहित्य इतिहास के लेखन की परम्परा –

हिन्दी साहित्य की लेखन सामग्री प्राप्ति के पश्चात् विद्वानों ने इतिहास लेखन प्रारम्भ किया । हिन्दी साहित्य का प्रथम इतिहास लेखन का श्रेय फ्रेंच भाषा के विद्वान् को जाता है । इसका नाम गार्सा द तासी था । इनका "इस्त्वार द ला लितरेत्युर ऐंडुई-ए-ऐन्दुस्तानी" नाम से 1839 में प्रथम भाग प्रकाशित हुआ तथा द्वितीय भाग 1847 में प्रकाशित हुआ । इसे अंग्रेजी के वर्णों के क्रमानुसार लिखा गया था । यह हिन्दी और उर्दू के लगभग 70 कवियों का संग्रह है । तासी ने प्रथम प्रयास में कवियों की जीवनी और उनके द्वारा रचित रचनाओं का उपलब्ध विवरण प्रस्तुत किया । यह नई दिशा की और प्रथम कदम था । इनका प्रारम्भिक प्रयास प्रशंसनीय रहा है । यह गौरवपूर्ण गाथा हिन्दी के इतिहास लेखन की परम्परा में नींव का पत्थर थी । इसी परम्परा को आगे बढ़ाते हुए शिवसिंह सेंगर ने "शिवसिंह सरोज" के नाम से 1883 में दूसरा इतिहास लिखा । इसमें लगभग एक हजार कवियों का वर्णन है । इसमें कवियों की जीवनी, जीवन सम्बन्धी घटनाएँ, चरित्रों एवं उनकी कविताओं के संग्रह को संगृहीत किया गया है । हिन्दी इतिहास लेखन का तीसरा प्रयास डॉ. जार्ज ग्रियर्सन ने "द मॉडर्न वर्नेक्युलर लिटरेचर ऑफ हिन्दुस्तान" के नाम से लिखा । यह एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल" से 1888 में प्रकाशित हुआ । इन्होंने इस इतिहास को वैज्ञानिक दृष्टि से व्यवस्थित किया । इस प्रकार का इतिहास पहली बार लिखा गया, किन्तु कालक्रमबद्ध इतिहास लेखन की परम्परा की शुरुआत मिश्रबन्धुओं द्वारा की गई । यह ग्रंथ "मिश्रबन्धु विनोद" के नाम से 1913 में प्रकाशित हुआ । इसमें काल विभाजन भी किया गया । इसी समय हिन्दी साहित्य जगत् में एक देदीप्यमान नक्षत्र का अवतरण हुआ । इनका नाम आचार्य रामचन्द्र शुक्ल था । इन्होंने हिन्दी साहित्य के इतिहास को सुव्यवस्थित कालक्रमानुसार लिखा । इस इतिहास को हिन्दी साहित्य का प्रामाणिक प्रारम्भिक ग्रंथ माना जाता है ।

यह नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा "हिन्दी शब्द सागर" की भूमिका के रूप में 1929 में प्रकाशित हुआ। आचार्य शुक्ल ने हिन्दी साहित्य के इतिहास को चार भागों में विभाजित करके इतिहास की महत्ता को बढ़ा दिया और आगामी लेखकों के लिए सीधा और सरल मार्ग तैयार कर दिया। इनका कालक्रमानुसार न्यायोचित एवं युगानुरूप इतिहास है, क्योंकि इन्होंने उपलब्ध ग्रंथों के आधार पर काल विभाजन किया। इस इतिहास में शुक्ल जी ने अपना दृष्टिकोण भी स्पष्ट किया। उन्होंने लिखा प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिम्ब होता है तब यह निश्चित है कि जनता की चित्तवृत्ति के परिवर्तन के साथ-साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्तन होता चला जाता है। आदि से अन्त तक इन्हीं चित्तवृत्ति की परम्परा को परखते हुए साहित्य परम्परा के साथ उनका सामन्जस्य दिखाना ही साहित्य का इतिहास कहलाता है। शुक्ल के पश्चात् हिन्दी साहित्य के परवर्ती इतिहासकारों ने भी हिन्दी जगत में अपना योगदान दिया। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने हिन्दी साहित्य की भूमिका के नाम से इतिहास लिखा। जिसमें ऐसे तथ्यों एवं निष्कर्षों का प्रतिपादन किया जो लेखन की दृष्टि से नवीन सामग्री एवं नई व्याख्या देती है। अन्य लेखकों में डॉ. रामकुमार वर्मा ने 1938 में डॉ. नगेन्द्र, डॉ. धीरेन्द्र वर्मा तथा डॉ. नामवर सिंह इत्यादि ने अपने अध्ययन, शोधप्रबन्ध व समीक्षात्मक दृष्टिकोण के माध्यम से हिन्दी साहित्य के इतिहास में नवीन योगदान दिया।

हिन्दी भाषा पर सांस्कृतिक प्रभाव –

भारतवर्ष की विशाल धरा पर अनेक परम्पराओं के लोगों ने आक्रमण किया और वे यहाँ रच बस गए। उनकी परम्परा भारत की संस्कृति में मिल गई। भारत की धरती पर वैदिक धर्म के साथ बौद्धधर्म व जैनधर्म का भी प्रसार हुआ। बौद्धधर्म ने मनुष्य को "जीओ और जीने दो" की शिक्षा दी। जैन धर्म ने इसी सिद्धान्त को 'अहिंसा' के नाम से अपनाया। किन्तु वैदिक धर्म नष्ट नहीं हुआ। वैदिक धर्म में ब्राह्मण आरण्यक, उपनिषद् एवं दर्शन शास्त्रों की रचनाएँ हुईं। न्यायदर्शन (महर्षि गौतम), योगदर्शन (महर्षि पतंजलि) वैशेषिक (महर्षि कणाद), सांख्य (महर्षि कपिल), पूर्व मीमांसा (महर्षि जैमिनी), उत्तर मीमांसा-वेदांत (शंकराचार्य) तथा छः वेदांग शिक्षा, कल्प, निरुक्त, छन्द ज्योतिष व व्याकरण। इन्हीं के कारण भारत विश्व में जगत् गुरु कहलाया। तक्षशिला और नालन्दा विश्वविद्यालय उच्च कोटि के शिक्षा केन्द्र बन गए। वैदिक संस्कृति का पूर्ण विकास हो गया। यहीं से विश्व में सृष्टि और परमात्मा की व्याख्या दी गई। आत्मा और माया को व्यक्त किया गया। मनुष्य को सृष्टि के विकास और विनाश को समझाया गया। अज्ञान को मिटाकर ज्ञान के द्वारा विश्व शान्ति प्रेम और सद्भावना की शिक्षा प्रदान की गई। इसी कारण भारत का अस्तित्व आज भी अमिट है। संस्कृत के आचार्यों ने सन्तों, सिद्धाचार्यों, जैनाचार्यों तथा नाथ समुदाय के योगियों द्वारा जन मानस में चेतना का नवीन संचार किया। चित्तवृत्तियों का सात्त्विक प्रवृत्तियों की ओर मार्गदर्शन किया। इसका प्रमुख श्रेय भारतीय वैदिक साहित्य में ऋग्वेद को जाता है, क्योंकि ऋग्वेद की ऋचाएँ सृष्टि के तत्त्वों की प्रामाणिक व्याख्या प्रदान करती है। जैसे:- इन्द्र, वरुण, सूर्य, पृथ्वी, आदि को देवों की संज्ञा देकर सृष्टि के संचालन में इनके सहयोग को प्रदान करने के कारण इनकी स्तुति की गई। यह सत्य जगत-विदित है कि इन तत्त्वों के

माध्यम से सृष्टि आज भी संचालित है। ऋग्वेद हमारे साहित्य का मूल है। संस्कृत भाषा से पाली, पाली से प्राकृत, प्राकृत से अपभ्रंश की उत्पत्ति हुई और क्षेत्रीय अपभ्रंश भाषाओं से उपभाषाएँ एवं बोलियाँ ही हिन्दी भाषा के जन्म का कारण हैं। इस हिन्दी साहित्य पर वैदिक कालीन संस्कृत के शब्दों की अमिट छाप है। जैसे— वाल्मीकि, वेदव्यास, अश्वघोष, कालिदास, बाणभट्ट, दण्डी, भामह, भारवि, भवभूति, विश्वनाथ, जयदेव, माघ एवं कल्हण आदि कवियों ने तथा अपभ्रंश साहित्य के अनेक आचार्यों के काव्यों ने हिन्दी भाषा को प्रभावित किया। अब्दुल रहमान (संदेशरासक) जोइन्दु कृत (परमात्मप्रकाश), धनपालकृत (भविसयत्कहा), पुष्यदन्त कृत (जसहरचरिउ), स्वयंभू कृत (पउमचरिउ) मुनि रामसिंह कृत (पाहुड़ दोहा) तथा हेमचन्द्र का "शब्दानुशासन" जैसी कृतियों का हिन्दी साहित्य में अमूल्य योगदान है। राहुल सांकृत्यायन तो इस समय के सहरपा (सरहपाद) कवि को हिन्दी का पहला कवि मानते हैं।

राजनीतिक प्रभाव —

हर्षवर्द्धन का साम्राज्य 700वी. शताब्दी के प्रारम्भ में छिन्न-भिन्न हो गया। उसके द्वारा शासित राज्यों ने अपनी सम्प्रभुता प्राप्त कर ली, साथ ही आक्रमणकारियों के लगातार युद्धों से भारतवर्ष की स्थिति को शोचनीय बना दिया। भारत की संगठित सत्ता पतन की ओर जा रही और उस समय इस्लाम राज्य की नींव रखी जा रही थी। आठवीं शताब्दी से पन्द्रहवीं शताब्दी तक भारतीय राजनीतिक परिस्थितियाँ धीरे-धीरे क्षीण होती चली गईं और इस्लामी शासक हिन्दुस्तान पर काबिज हो गए। युद्धों से आहत भारतीय जनता अपना धैर्य खो चुकी थी। विदेशी शक्तियों के आक्रमण का प्रभाव साहित्यिक क्षेत्र में पड़ने लगा। भाषा में अरबी-फारसी के शब्द आ गए। चारों तरफ अराजकता, गृह कलह, विद्रोह, आक्रमण, अशान्ति एवं निर्धनता से त्रस्त होकर मानव अपने मन को परम शक्ति परमात्मा के प्रति केन्द्रित करने लगा। इस समय तीन बातें प्रमुख थीं। कुछ व्यक्ति भौतिक सुखों से वंचित होने पर आध्यात्मिक बातें करने लगे, कुछ हिम्मत करके जी-जान से दुश्मनों से लोहा लेते हुए प्राण न्यौछावर करने लगे तथा कुछ मरते-मरते भी अपने भोग का परित्याग नहीं कर सके। इस युग में विचित्र परिस्थितियाँ उत्पन्न हो गईं। इन परिस्थितियों के बीच चौथी पंक्ति उन लोगों की थी, जिन्होंने अपने शौर्य और बुद्धि के बल पर धैर्य को बचाये रखा। ईश्वर की लोक कल्याणकारी सत्ता में अपना विश्वास जगाए रखा। ऐसे वीर धरती के लिए गौरव बन रहे थे। उसी गौरवपूर्ण गाथा का उदय रासो साहित्य से हुआ, जिसमें आश्रयदाता राजाओं की प्रशंसा उनका अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन, शौर्य, वीरता एवं पराक्रम को दर्शाया जा रहा था। राजनीति एक अजीब मोड़ ले रही थी। विदेशी आक्रमणकारियों ने भारत को बुरी तरह नष्ट कर दिया था। जन-धन की हानि के साथ भारतीय निराशा के सागर में डूब रहे थे।

आर्यावर्त की समृद्धि, खुशहाली एवं शक्ति से आस-पास के सीमावर्ती प्रदेश खुश नहीं थे। उनके मन-मस्तिष्क में सदैव आर्यावर्त की खुशी छीनने की योजना बनती रहती थी। यह 'सोने की चिड़िया' कहलाने वाला देश विदेशियों की आँखों की किरकिरी बना हुआ था। यहाँ यवन, आभीर, हूण, कुषाण तथा मुसलमान आदि जातियाँ आईं। भारत के अद्भुत शौर्य के आगे यवन

पराजित हुए । किन्तु लगातार युद्धों के कारण दसवीं शताब्दी तक विदेशी जातियों ने अपना आधिपत्य जमा लिया । छठीं शताब्दी में हर्षवर्द्धन का एक छत्र साम्राज्य रहा । चीनी यात्री ह्वेनसांग जब आया तो भारत के वैभव को देखकर वह चकित रह गया । दसवीं शताब्दी में महमूद गजनवी ने भारत पर लगातार कई आक्रमण किए और भारत को लूटकर ले गया । गजनवी के बाद भारत में शहाबुद्दीन मोहम्मद गौरी ने आक्रमण किया । तब पृथ्वीराज चौहान और शहाबुद्दीन मोहम्मद गौरी का तराइन में (1191) पहला युद्ध हुआ, जिसमें गौरी पराजित हुआ, किन्तु दूसरे ही वर्ष (1192) शहाबुद्दीन गौरी तराइन के मैदान में फिर आ डटा और यह भारत के लिए एक निर्णायक युद्ध हुआ । पृथ्वीराज चौहान की पराजय हुई और गौरी की विजय। इन युद्धों के कारण जनता और पिस गई थी, आर्थिक संकट से जूझ रही थी । अकाल और भुखमरी से आहत थी और सम्राट युद्ध में व्यस्त रहते थे । गुलाम प्रथा का बोलबाला था । स्त्रियों को बाजार में खरीदा और बेचा जाता था। दास प्रथा का प्रचलन हो रहा था । गुलाम वंश से खिलजी वंश तक भारत की स्थिति दयनीय हो गई थी । अकाल और गरीबी के कारण हिन्दुओं को दुःख भोगना पड़ता था । अमीर खुसरो इसी युग के कवि थे । इन्होंने इस समय अपनी प्रसिद्ध कृति खुसरो की पहेलियाँ लिखी –

तरवर से इक तिरिया उतरी, उसने बहुत रिझाया ।
 बाप का उससे नाम जो पूछा, आधा नाम बताया । ।
 आधा नाम पिता पर प्यारा, बूझ पहेली गौरी ।
 अमीर खुसरो यो कहे, अपने नाम न बोली निबोरी ।।

सामाजिक स्थिति का प्रभाव –

राजनीतिक परिस्थितियों के साथ सामाजिक स्थितियों में परिवर्तन आ रहा था । जनता का शासकों के प्रति विश्वास समाप्त हो गया तो धर्म के मठाधीशों के प्रति भी निराशा ही हाथ लग रही थी । चारों तरफ असहायता एवं लाचारी नजर आ रही थी । ऐसे में अंधविश्वास, जातिपाँति का भेद और बढ़ गया । समाज में असामाजिकता, अत्याचार एवं अनुशासनहीनता का वातावरण फैल गया । स्त्री के प्रति और भी अन्याय होने लगा । नारी वस्तु की भाँति खरीदी और बेची जाने लगी । सती प्रथा, बाल विवाह तथा दास प्रथा की परम्परा ने जोर पकड़ लिया था । ढोंगी सन्त महात्मा व्यक्तियों को धर्म का भय दिखाकर ठग रहे थे । निर्धनता जनता के लिए अभिशाप बन चुकी थी । अकाल, महामारी, आक्रमण के कारण फसलों को नष्ट करना, जनता को मारना-काटना आदि बातों ने समाज को विकट परिस्थितियों में डाल दिया । गरीब-गरीब बन रहे थे और धनी धनवान बनते जा रहे थे । इस समय केवल साहित्य के द्वारा ही आशा का संचार किया जा रहा था । अपभ्रंश भाषा में साहित्य रचना हो रही थी जिसके माध्यम से धर्म, नियम एवं नैतिकता पुनः समाज में अपना स्थान जमा रही थी । सातवीं शताब्दी के अंत में और आठवीं शताब्दी के प्रारम्भ में स्थापत्य कला को बढ़ावा मिला । पल्लव शासकों ने शिल्पियों एवं चित्रकारों को सम्मान देना शुरू कर दिया । मद्रास म्युजियम के चोल ताम्रपत्र के अनुसार कांचीपुरम के बुनकरों को उनकी

व्यापारिक कलाओं के कारण वैश्य व्यापारियों जैसा सम्मान मिलना शुरू हो गया और बुनकर (जुलाहे) कपड़े का व्यापार करने लगे । दक्षिण में वैष्णव आलवार संतों के उच्च वर्ण एवं निम्न वर्णों के सन्त आपस में मिल जुलकर रह रहे थे और समाज में सामाजिक सद्भावना का सन्देश दे रहे थे । निम्नवर्ग सामाजिक मर्यादा की दृष्टि से ऊपर उठने के लिए एक नया मार्ग ढूँढने के लिए प्रवृत्त हो रहा था । इसी समुदाय के कांचीपूर्ण नामक सन्त बहुत प्रतिष्ठित हो रहे थे । समाज में रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैत एवं शंकराचार्य के अद्वैतवाद का दर्शन जीवन दर्शन को प्रकट कर रहा था । अद्वैत के शंकराचार्य जगत् को मिथ्या परिवर्तनशील मानते और ब्रह्म को सत्य मानते हैं – “ब्रह्म सत्यं जगत्मिथ्या” और रामानुजाचार्य विशिष्टाद्वैत में जगत् को शरीर और ब्रह्म को शरीरी मानते थे । रामानुजाचार्य के शिष्य रामानन्द जी ने भक्ति को दक्षिण से उत्तर में लाने का कार्य किया ।

आदिकाल की पृष्ठ भूमि –

संस्कृत भाषा के विशाल साहित्य में अपार शब्द भण्डार है । इसमें अनेक ग्रन्थों की रचना हुई, किन्तु वेद, उपनिषद्, आरण्यक की भाषा जनसामान्य के लिए कठिन हो रही थी । इसलिए भाषा का सरलीकरण हुआ और लोक भाषा के रूप में अपभ्रंश तक पहुँच गई । सातवीं शताब्दी में अपभ्रंश पूर्ण रूप से विकास की ओर जा रही थी । कहीं वह ग्राम्य भाषा के रूप में तो, कहीं संस्कृतनिष्ठ शब्दावली युक्त वाक्य योजना के अन्तर्गत लिखी जा रही थी । तत्कालीन साहित्यकार जनरुचि को देखकर अपने मनोभावों को अभिव्यक्त कर रहे थे । सातवीं शताब्दी के सिद्धाचार्यों ने अपने अनुभवों को वाणी देना प्रारम्भ कर दिया । उनकी भाषा में संस्कृत शब्दावली का प्रयोग हुआ । ये तत्सम शब्द धीरे-धीरे हिन्दी भाषा की नींव डाल रहे थे । दसवीं शताब्दी तक आते-आते अपभ्रंश का लोक साहित्य पर्याप्त विकसित एवं सूक्ष्म भावनाओं की अभिव्यंजना करने लगा । इस समय अपभ्रंश भाषा परिनिष्ठित होकर साहित्यिक भाषा का रूप धारण कर चुकी थी और लोक भाषा में लिखित साहित्य तत्सम शब्दावली युक्त अपभ्रंश में लिखा जाने लगा । अपभ्रंश का रूप निखर कर आ रहा था । विभिन्न प्रवृत्तियों तथा विभिन्न काव्य रूपों के कारण कथा और शिल्प-विधान भी संस्कृत साहित्य के नियमों के बंधन से मुक्त हो गया । यह विभिन्न सम्प्रदाय, धर्म तथा मतमतान्तरों का काल था । कहीं सदाचार और वैराग्य की धारा में कवि अपनी रचना लिख रहा था तो कहीं शृंगार रस की धारा के साथ-साथ वीर रस का भी संगम हो रहा था ।

दसवीं शताब्दी से 13 वीं शताब्दी का यह साहित्य राजाश्रय, धर्माश्रय तथा लोकाश्रय के आधार पर रचा जा रहा था । इस समय साहित्यिक संक्रमण काल चल रहा था । छन्द, काव्यात्मक रूप, विषयवस्तु, काव्य रूढ़ियाँ एवं परम्पराओं की दृष्टि से अपभ्रंश साहित्य प्रचुर मात्रा में प्रभावित हुआ । हिन्दी भाषा को प्राणवान् बनाने का प्रयास प्रबुद्धचेता तथा विकासोन्मुखी प्रतिभावान रचनाकारों ने अपने भावों को लोकरंजनकारी एवं लोककल्याणकारी बनाने का सुनियोजित मार्ग प्रशस्त किया । जनमानस जीवन्त धारा की ओर बढ़ रहा था । वीर रस की वेगमयी धारा ने अदम्य साहस का संचार किया, जो लोकरंजन के साथ-साथ लोकरक्षण का काम कर रही थी । राजाश्रय कवियों ने युद्ध के क्षणों में सेना के मनोबल को बढ़ाने के लिए वीर रस

को चुना । वीर रस की ओजस्वी शैली के कारण इस को रासो का नाम दिया गया । यथा:—
आध्यात्मिक, वीर रसात्मक तथा शृंगारिक रचनाओं के उदाहरण इस प्रकार है :-

नाद न, बिंदु न रवि न ससि मण्डल । चिअराअ सहाबे मूलक ॥
उजु रे उजु जाडि मा तेहु रेबंक । निअहि वोहि जा जहुरे लंक ॥
सरहपाद

हम्मीर कज्ज जज्जल भण्ड फोहाणल यह मई जलउ ।
सुलितान—सीस करवाल दह तज्जि कलेवर दिअचलउ ॥

शाङ्गधर

जनम अवधि हम रूप निहारल नयन न तिरपति भेल ।
से हो मधु वोल सवनहि सूनल सुति पथ परस न मेल ॥
विद्यापति

आदिकाल के इस समय में हिन्दी का प्रारम्भिक रूप देखने को मिल रहा था । हिन्दी अपने अस्तित्व में आ रही थी । आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कहा “दसवीं से चौदहवीं शताब्दी का काल जिसे हिंदी का आदि काल कहते हैं, भाषा की दृष्टि से अपभ्रंश का ही बढ़ावा है । इसी अपभ्रंश के बढ़ाव को कुछ लोग उत्तरकालीन अपभ्रंश कहते हैं और कुछ लोग पुरानी हिन्दी । बारहवीं शताब्दी तक निश्चित रूप से अपभ्रंश भाषा ही पुरानी हिन्दी के रूप में चलती थी, यद्यपि उसमें नए तत्सम शब्दों का आगमन शुरू हो गया” । इस प्रकार अपभ्रंश के प्रारम्भ से लिखी गई रचनाएँ और उत्तरार्द्ध अपभ्रंश की रचनाएँ आदिकाल की रचनाएँ मानी गई हैं । इस समय का साहित्य परिनिष्ठित अपभ्रंश के रूप में हिन्दी का रूप निखार रहा था । इस काल के नामकरण पर अनेक मत प्रकट हो रहे थे ।

काल विभाजन और नामकरण —

हिन्दी साहित्य के काल विभाजन को लेकर विभिन्न मत मतान्तर है । साहित्यिक परम्पराएँ और प्रवृत्तियाँ निरन्तर गतिशील रहती हैं । जो प्रवृत्ति अनुकूल परिस्थितियों के कारण उत्पन्न होती है वही समय पाकर प्रतिकूल परिस्थितियों में धीरे-धीरे मन्द पड़ जाती है । यह काल की शाश्वत क्रिया है, किन्तु पूर्णतः कोई प्रवृत्ति विलुप्त नहीं होती । प्रकृति की प्रवृत्ति उद्भव विकास और ह्रास की रही है । विभिन्न प्रकार की साहित्यिक धाराएँ उत्पन्न हुईं और समय पाकर विलीन हो गईं । इसलिए काल विभाजन का कार्य अत्यंत कठिन रहा है । फिर भी विद्वानों ने अपने विवेक एवं शोध प्रक्रिया के माध्यम से हिन्दी साहित्य में काल विभाजन एवं उसका नामकरण करने का प्रयास किया है । डॉ. ग्रियर्सन के पूर्व लिखे गए साहित्य के इतिहासकार गार्सा द तासी एवं शिवसिंह सेंगर ने अपने इतिहास में केवल तत्कालीन रचनाओं की साहित्यिक कृति की झलक प्रस्तुत की थी । वे काल विभाजन की दृष्टि से इतनी प्रभावी नहीं हो पाईं । डॉ. ग्रियर्सन ने अपने पूर्व विद्वानों द्वारा रचित इतिहास का गहन चिंतन मनन एवं सूक्ष्म अध्ययन करके इस काल को क्रमानुसार विभाजित किया । इन्होंने हिन्दी साहित्य में पहली बार संयोजित एवं ऐतिहासिक दृष्टिकोण को अपनाया । डॉ.

ग्रियर्सन ने कहा कि समय की परिवर्तनशीलता के कारण चिंतनधारा में भी परिवर्तन होता है। ग्रियर्सन ने हिन्दी साहित्य के इतिहास को ग्यारह भागों में विभाजित किया। इन्होंने हिन्दी साहित्य के प्रथम काल का नाम चारण काल कहा। मिश्रबन्धुओं ने अपने इतिहास ग्रंथ "मिश्रबन्धु विनोद" में निम्न प्रकार से काल विभाजन किया।

1. आरम्भिक काल (क) पूर्वारम्भिक काल 700 से 1343 वि.
(ख) उत्तरारम्भिक काल 1344 से 1444 वि.
2. माध्यमिक काल (क) पूर्वमाध्यमिक काल 1445 से 1560 वि.
(ख) प्रौढ़ माध्यमिक काल 1561 से 1680 वि.
3. अलंकृत काल (क) पूर्वालंकृत काल 1681 से 1790 वि.
(ख) उत्तरालंकृत काल 1791 से 1889 वि.
4. परिवर्तन काल 1890 से 1925 वि.

5. वर्तमान काल 1926 से अद्यावधि

मिश्रबन्धुओं का वर्गीकरण ग्रियर्सन की अपेक्षा प्रौढ़ था, किन्तु इसमें पूर्णता नहीं आई। इसे वैज्ञानिक तरीके से सही नहीं माना गया क्योंकि यह युक्ति संगत कम था। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 900 वर्षों के हिन्दी साहित्य को चार भागों में विभाजित किया, जो विद्वानों को कुछ मान्य तथा कुछ अमान्य रहा। शुक्ल के अनुसार हिन्दी साहित्य को निम्नलिखित कालों में बाँटा गया –

1. वीरगाथा काल वि. 1050 से 1375 तक (993 ई० से 1318 ई०)
2. भक्तिकाल वि. 1375 से 1700 तक (1318 ई० से 1643 ई०)
3. रीतिकाल वि. 1700 से 1900 तक (1643 ई० से 1843 ई०)
4. गद्यकाल वि. 1900 से आज तक (1843 ई० से अब तक)

आचार्य शुक्ल के काल विभाजन एवं नामकरण के पीछे कारण रहा है। शुक्ल जी का वीरगाथा काल नामकरण विशेष अनुसंधान एवं गन्वेषणाओं के आधार पर किया गया। उनके काल विभाजन के दो आधार थे –

1. किसी काल खण्ड में विशेष ढंग की रचनाओं की प्रमुखता।
2. इस समय के ग्रन्थों की प्रसिद्धि।

शुक्ल जी ने बताया है कि इतिहास की खोज करने पर सबसे पहले रासो की प्राप्ति हुई। जो वीर रस में लिखा गया था। शुक्ल जी ने निम्नलिखित 12 ग्रंथों के आधार पर हिन्दी के प्रथम काल को वीरगाथा काल कहा।

- | | |
|----------------------------------|----------------------------------|
| 1. विजयपाल रासो (नल्लसिंह कृत) | 2. हम्मीर रासो (शाङ्गधर कृत) |
| 3. खुमान रासो (दलपतविजय कृत) | 4. बीसलदेव रासो (नरपति नाल्हकृत) |
| 5. पृथ्वीराज रासो (चंदबरदाई कृत) | 6. जयचंदप्रकाश(भट्ट केदार कृत) |

7. जयमंयक जस चंद्रिका (मधुकर कवि कृत) 8. परमाल रासो (जगनिक कवि कृत)
 9. खुसरो की पहेलियाँ (अमीर खुसरो कृत) 10. कीर्तिलता (विद्यापति कृत)
 11. कीर्ति पताका (विद्यापति कृत) 12. विद्यापति पदावली (विद्यापति कृत)

किन्तु शुक्ल जी के नामकरण को आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने नहीं माना । उन्होंने कहा शुक्ल जी द्वारा वीरगाथा काल की प्राप्त सामग्री साहित्यिक कोटि में नहीं आती है। इस समय रचित धार्मिक साहित्य की उपेक्षा नहीं कर सकते । धार्मिक आधार भूमि पर रचित साहित्य भी उत्तम कोटि का होता है:— उदाहरण रामचरितमानस को यदि भक्तिकाल से निकाल देते हैं तो भक्तिकाल की शोभा नष्ट हो जाती है । इस तरह सन्देशरासक, स्वयंभू कृत पउमचरिउ (रामायण) पुष्यदंत कृत 'पउमसिरी चरिउ' आदि जैन साहित्य के ग्रंथों को भी हिन्दी साहित्य से बाहर नहीं कर सकते । द्विवेदी जी के शब्दों में धार्मिक प्रेरणा या आध्यात्मिक उपदेश होना काव्यत्व का बाधक नहीं समझा जाना चाहिए । इस प्रकार अपभ्रंश के काव्य ग्रन्थों की नवीन खोज एवं उनका साहित्यिक मूल्यांकन करना चाहिए । शुक्ल जी ने मिश्रबन्धुओं द्वारा उल्लिखित तथा अन्य अपभ्रंश ग्रंथों को आदिकाल के लक्षण—निरूपण तथा नामकरण के लिए विवेच्य नहीं समझा था। आज नवीनतम खोजों के आधार पर उत्कृष्ट अपभ्रंश (पुरानी हिन्दी) के काव्य ग्रंथ प्राप्त होने से शुक्ल जी का दृष्टिकोण त्रुटिपूर्ण प्रतीत होता है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने हिन्दी साहित्य के इतिहास को चार भागों में विभाजित किया ।

1. आदिकाल 2. पूर्व मध्यकाल 3. उत्तर मध्यकाल 4. आधुनिककाल

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने हिन्दी साहित्य के प्रथम काल को आदिकाल कहने के लिए अपना मत प्रकट किया। उन्होंने लिखा कि "वस्तुतः हिन्दी साहित्य का आदिकाल शब्द एक प्रकार की भ्रामक धारणा की सृष्टि करता है और श्रोता के चित्त में एक भाव पैदा करता है कि यह कोई आदि में मनोभावपन परम्परा विनिर्मुक्त काव्य रूढ़ियाँ से अछूते साहित्य का काल है; यह ठीक नहीं है । यह काल बहुत अधिक परम्परा प्रेमी, रूढ़िग्रस्त और सजग सचेत कवियों का काल है। पंडित राहुल सांकृत्यायन ने हिन्दी साहित्य के आदिकाल को सिद्धसामन्त काल कहा । उन्होंने माना कि यह काल सिद्ध आचार्यों के धार्मिक उपदेश नैतिक दर्शन एवं आध्यात्मिकता से युक्त है । डॉ. रामकुमार वर्मा ने इस काल को संधि व चारण काल कहा इस नामकरण को दो भागों में बाँटने के पीछे कारण था। संधि काल दो भाषाओं की संधि का काल था तथा चारणकाल चारण जाति के कवियों द्वारा राजाओं की यशोगाथा को प्रकट करता है, जिसमें तत्कालीन राजाओं के शौर्य, वीरता एवं साहस का वर्णन है। उनके जीवन प्रसंगों को अतिशयोक्तिपूर्ण बनाकर वर्णन करना है। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने इस काल को "बीजवपन" काल कहा। उन्होंने बताया कि हिन्दी साहित्य के प्रारम्भिक काल में पूर्ववर्ती साहित्य की सभी काव्य रूढ़ियों और परम्पराओं का सफलतापूर्वक निर्वाह हुआ है साथ ही साथ कुछ नवीन साहित्यिक प्रवृत्तियों का भी उद्भव हुआ है जो अपने समुचित विकास रूप में है। श्री चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ने हिन्दी साहित्य के प्रथम काल को अपभ्रंश काल के नाम से सम्बोधित किया। उन्होंने बताया कि हिन्दी की प्रारम्भिक स्थिति अपभ्रंश भाषा के साहित्य से शुरू होती है, इसलिए अपभ्रंश काल कहना उचित है । विश्वनाथ प्रसाद

मिश्र द्वारा इस काल का नामकरण वीरकाल किया गया । इससे यह लगता है कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के वीरगाथा काल का ही रूपान्तरण है । डॉ. नगेन्द्र ने अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास में काल का विभाजन एवं नामकरण सामान्यतः इस प्रकार किया है ।

1. आदिकाल सातवीं शताब्दी के मध्य से चौदहवीं शताब्दी के मध्य तक ।
2. भक्तिकाल चौदहवीं शताब्दी के मध्य से सत्रहवीं शताब्दी के मध्य तक ।
3. रीति काल सत्रहवीं शताब्दी के मध्य से उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक ।
4. आधुनिक काल उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य से अब तक ।
 - (1.) पुनर्जागरण काल (भारतेन्दु काल) 1857 से 1900 ई० तक
 - (2.) जागरण काल (द्विवेदी काल) 1900 से 1918 ई० तक
 - (3.) छायावाद काल 1918 से 1938 ई० तक
 - (4.) प्रगति-प्रयोग काल 1938 से 1953 ई० तक
 - (5.) नवलेखन काल 1953 ई० से अब तक

परिनिष्ठित अपभ्रंश भाषा हिन्दी के रूप में प्रतिष्ठित हो रही थी । अपभ्रंश भाषा के कवि अपनी वाणी को सामाजिक, आध्यात्मिक एवं नैतिक विचारों से युक्त करके मानवीय जीवन को सुव्यवस्थित करने की ओर ध्यान दे रहे थे और जन-जन को नवीन प्रेरणा प्रदान करके अपने विचारों की अभिव्यक्ति कर रहे थे । तब यह प्रश्न आता है कि हिन्दी का प्रथम कवि किसे कहा जाए । शिवसिंह सेंगर ने अपने ग्रंथ “शिवसिंह सरोज” में हिन्दी के प्रथम कवि के रूप में सातवीं शताब्दी के पुष्य दन्त या पुण्यदन्त नामक किसी कवि का नाम लिखा, किन्तु इस कवि का उल्लेख मात्र मिलता है अभी तक उसकी कोई रचना उपलब्ध नहीं हुई । शिवमहिम की रचना पुण्यदन्त ने की । इनका लक्षणग्रन्थ भी था जो अभी तक प्राप्त नहीं हुआ । सरहप्पा (सरहपाद)राहुल सांकृत्यायन ने सातवीं शताब्दी के सरहप्पा को हिन्दी का प्रथम कवि माना है । ये 84 सिद्धाचार्यों में से है । इन्होंने बताया कि सरहपाद कवि की कृतियों में अपभ्रंश की अपेक्षा संस्कृत भाषा के तत्सम शब्दों का प्रयोग हुआ । इनकी काव्य चेतना में अनेक ऐसे तत्त्वों का समावेश है जो भक्ति काल में पल्लवित हुए अर्थात्, इनका काव्य भक्ति काल का बीजांकुर था । 84 सिद्धाचार्यों की वाणी का रूप नाथ सम्प्रदाय से लेकर कबीर दास तक देखा जाता है । इससे ऐसा प्रतीत होता है कि नाथ सम्प्रदाय का विकास सिद्ध साहित्य से ही हुआ । सरहप्पा को हिन्दी का पहला कवि कहने के पीछे एक अन्य आधार काव्य शैली है । इनका काव्य दोहा और पदों की शैली युक्त था, जिसे परवर्ती कवियों ने अपनाया । इन्होंने मुक्त छंद दोहा का अधिक प्रयोग किया । इन दृष्टियों से सरहपाद को हिन्दी का प्रथम कवि माना गया । कुछ विद्वानों का मत है कि सरहपाद को हिन्दी का प्रथम कवि इसलिए नहीं मानते कि इनका काव्य अपभ्रंश साहित्य में लिखा गया है तथा दूसरा इस समय हिन्दी का कोई प्रसार नहीं था । हिन्दी का निखार तो 11वीं शताब्दी तक आते-आते हुआ । जबकि सरहपाद सातवीं शताब्दी के सिद्धाचार्य कवि थे । डॉ. गणपति चन्द्र गुप्त ने कहा “अपभ्रंश और हिन्दी के बीच ऐसी कोई मध्यान्तर रेखा नहीं खींची जा सकती है । उन्होंने अपने “हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास” में “भरतेश्वर बाहुबली रास” के रचयिता शालिभद्र सूरि को

हिन्दी का प्रथम कवि माना है। कुछ विद्वान अमीर खुसरो को तथा कुछ विद्यापति को हिन्दी का प्रथम कवि मानते हैं। लेकिन कुछ विद्वानों ने अमीर खुसरो और विद्यापति को 12वीं शताब्दी के कवि कहकर अस्वीकार कर दिया। मिश्रबन्धुओं ने अपने 'हिन्दी नवरत्न' में लिखा – महाकवि चंदबरदाई वास्तव में हिन्दी के प्रथम कवि है। चंदबरदाई की रचनाओं में प्रौढ़ता एवं छन्द विधान का अनुसरण किया गया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का मानना है कि चंदबरदाई हिन्दी के प्रथम कवि हैं एवं इनकी रचना पृथ्वीराज रासो हिन्दी का प्रथम महाकाव्य है। डॉ. रामकुमार वर्मा ने हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास (1938) में लिखा। उन्होंने बताया कि स्वयंभू हिन्दी का प्रथम कवि है क्योंकि अपभ्रंश के कवियों की लेखनी काव्यमयी हो उठी थी। शैली भी सरस और प्रवाह पूर्णता के कारण लोकप्रिय हो रही थी जिसका प्रभाव भक्ति पर पड़ा किन्तु अन्त में हिन्दी साहित्य के प्रथम कवि के रूप में सरहप्पा को ही माना गया, क्योंकि उनकी भाषा एवं काव्य शैली के उदाहरणों से स्वतः ही इसका उत्तर मिल जाता है और यह स्पष्ट हो जाता है कि सरहपाद की भाषा अपेक्षाकृत हिन्दी के अधिक निकट है।

जह मन पवन नसंचरइ, रवि शशि नाह पवेश ।

तहि वट चित विसाम करू, सरहे कहिअ उवेश ॥

पण्डिअ सअल सत्थ बक्खाणइ ।

देहहि बुद्ध बसन्त न जाणइ ॥

इस उदाहरण से अपभ्रंश भाषा में संस्कृत के तत्सम शब्दों की प्रवृत्ति पाई गई जो आगे चलकर हिन्दी भाषा के शब्द बने, मन पवन, रवि, शशि वट और चित। राहुल जी ने सरहप्पा का समय 769 ई. माना है। डॉ. रामकुमार वर्मा भी सातवीं शताब्दी से ही सिद्धों की रचनाओं को भाषा का प्रारम्भिक रूप मानते हैं। इसमें दोहा शैली का विकसित रूप मिलता है। सिद्धाचार्यों के इस प्रकार के साधनात्मक दोहे नाथ सम्प्रदाय एवं कबीर दास के हठयोग तक का मूल सिद्ध करते हैं।

आदिकालीन साहित्यिक भाषा का स्वरूप –

आदिकाल की मूल भाषा अपभ्रंश ही साहित्यिक भाषा के रूप में उभरकर आ रही थी। अपभ्रंश की साहित्यिक सामग्री की विवेचना करें तो हमें चार रूप मिलते हैं – लोक भाषा में लिखित अपभ्रंश साहित्य, राजस्थानी मिश्रित अपभ्रंश साहित्य, मैथिली मिश्रित अपभ्रंश साहित्य, खड़ी बोली मिश्रित देशी भाषा साहित्य।

अपभ्रंश साहित्य –

लोक भाषा अपभ्रंश पुरानी हिन्दी का पूर्ववर्ती रूप है। इसे अपभ्रंश के कवियों ने जन मानस में नवीन उदार भावनाओं का संचार करने के लिए अपनी आध्यात्मिक भावनाओं को जन-जन तक पहुँचाने के लिए काव्य की रचना की। अपभ्रंश भाषा उस समय विभिन्न रूपों में प्रकट हो रही थी। जैसे :- पहले लौकिक अपभ्रंश, दूसरी परवर्ती अपभ्रंश जिसे अवहट्ट भी कहते हैं, तीसरी क्षेत्रीय भाषा की अपभ्रंश जिसे राजस्थानी (डिंगल) का नाम दिया जाता है। लौकिक अपभ्रंश का साहित्य – सिद्ध साहित्य, जैन साहित्य, नाथ साहित्य।

सिद्ध साहित्य – राहुल सांकृत्यायन ने चौरासी सिद्धों के नामों का उल्लेख किया है । इन सिद्धों का मूल लक्ष्य अपने साहित्य को जन भाषा में लिखकर सर्वसाधारणजन तक पहुँचाना था । इनके साहित्य में बौद्धधर्म के वज्रयान तत्त्व का बाहुल्य था । सिद्ध साहित्य के प्रमुख कवि निम्नलिखित हैं –

सरहपा – सरहपाद इस समय के सबसे प्रमुख सिद्ध माने जाते हैं, जिनका समय 769 ई. माना गया है । इनके द्वारा 32 ग्रंथों की रचना की गई है । ये ब्राह्मण जाति के थे । इसके द्वारा रचित दोहाकोश और चर्यापद प्रसिद्ध रचना है । इन्होंने पाखण्ड और आडम्बरों का धोर विरोध किया तथा गुरु को सबसे पूज्य माना । इनका कहना है कि “सहजभोग मार्ग जीव को महासुख की ओर ले जाता है ।” इनकी भाषा सरल एवं गेय थी । इसलिए भावों में सहज प्रवाह मिलता है । दक्षिण मार्ग को छोड़कर वाममार्ग का उपदेश दिया । उदाहरण :-

नाद न बिन्दु न रवि न शशि मण्डल ।
चिअराअ सहाबे मूकल ॥
अजुरे उजु छाड़ि मा लेहु रे बंक ।
निअह बोहिया जाहुरे लांक ॥

कवि सरहपाद की इस भाषा से लगता है कि यह हिन्दी के निकट थी । इसमें अपभ्रंश का भी पूर्ण प्रभाव है । इनके काव्य में अन्तःसाधना पर जोर दिया गया । पण्डितों को फटकार एवं शास्त्रीय मार्ग का खण्डन किया ।

पंडिअ सऊल सन्त बसखाणणई । देहहि बुद्ध बसन्त जाणई ॥
अमणा गमन णतेनबि खंडिअ । तो विणिलज्ज हउं पंडिअ ॥

शबरपा – शबरों का सा जीवन यापन करने के कारण इनका नाम शबरपा कहे जाने लगा । चर्यापद इनकी प्रसिद्ध रचना है । ये क्षत्रिय कुल के थे । सरहपा से इन्होंने ज्ञान प्राप्त किया । इन्होंने सहज जीवन पर बल देकर माया-मोह का विरोध किया ।

हेरि ये मेरि तइला, वाडी खसमें समतुला ।
पुकडए सेरे कपासु फुटिला ॥

लुइपा – ये शबरपा के शिष्य थे । ये जाति से कायस्थ थे, किन्तु इनकी प्रबल साधना देखकर उड़ीसा के राज मंत्री इनके शिष्य बन गए । चौरासी सिद्धों में इनका ऊँचा स्थान है ।

“कौआ तरुवर पंच विडाल,चंचल चीए पइठा काल ।

डोम्बिपा – डोम्बिपा जाति के क्षत्रिय थे । इनका समय 840ई. के लगभग माना गया है । इनके गुरु का नाम विरूपा था । इनके प्रसिद्ध ग्रंथ डोम्बि-गीतिका व योगचर्या विशेष-प्रसिद्ध ग्रंथ है ।

“गंगा जउना माझेरे बहर नाइ ।
तांहि बुडिली मातंगी पोइआली ले पार गई ॥
सद्गुरु पाऊपए जाइव पुणु जिणउरा ।

कण्हपा — ये ब्राह्मन वंश के थे । इनका समय 820 ई. माना जाता है । इनका जन्म कर्नाटक में हुआ । किन्तु ये बिहार क्षेत्र में रहे। इनके गुरु का नाम जालंधरपा था । इन्होंने रहस्यपरक बातों को बड़े दार्शनिक ढंग से प्रस्तुत किया तथा शास्त्रीय परम्परा एवं रूढ़ियों का खण्डन किया ।

आगम बेअ पुराणे, पंडित मान वहति ।

पक्क सिरिफल अलिअ, जिमे वाहेरित भ्रमयति ॥

कुक्कुरिपा — ये कपिलवस्तु के ब्राह्मन थे। चर्पटिया इनके गुरु थे । उन्होंने सोलह ग्रंथों की रचना की । ये सहज जीवन के समर्थक थे ।

हांद निवासी खमण भतारे ।

मोहोरे विगोआ कहण न जाई ॥

फेट लिउ गो माए अन्त उडि चाहि ।

ज एथु बाहाम मो एथु नाहि ॥

सिद्ध साहित्य की विशेषताएँ एवं परवर्ती काव्य पर इनका प्रभाव —

- 1- सिद्धों की रचना से पता चलता है कि इनकी काव्य शैली संधा या उलटबासी शैली की थी, जिसका सामान्य अर्थ से उलटा अर्थ लगता है ।
- 2- अंतःसाधना पर जोर दिया गया ।
- 3- रहस्यमार्गियों की साधना पद्धति अपनाई गई है ।
- 4- वारुणी प्रेरित अंतःसाधना पर जोर दिया गया । लोक विरुद्ध एवं अडम्बारों का खण्डन किया ।
- 5- उपदेशपरक साहित्यिक रचनाएँ थीं ।
- 6- प्रतीक मूलक एवं विरोध मूलक प्रतीकों से काव्य साधना की ।

इस प्रकार सिद्ध साहित्य न केवल महत्त्वपूर्ण रहा अपितु उसका प्रभाव परवर्ती भाषा साहित्य पर भी पड़ा । सिद्धाचार्यों के काव्य का सीधा प्रभाव सन्त साहित्य पर पड़ा । कर्मकाण्डों की निन्दा, आचरण की शुद्धता, संधा भाषा, उलटबासियाँ, रहस्यमयी उक्तियाँ, रूपक एवं प्रतीक विधान शब्दावली का प्रयोग हम भक्तिकाल के सन्त कबीर के साहित्य में देखते हैं । दोहा और गीत शैली भक्तिकाल की विशेषता बन गई । इसका प्रभाव नाथ साहित्य पर भी पड़ा, क्योंकि योग साधना सिद्धों की परम्परा लगती है । डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कहा “भक्तिवाद पर सिद्धों का प्रभाव है। इनके साहित्य की सबसे बड़ी महत्त्वपूर्ण देन यह है कि आदिकाल की प्रामाणिक सामग्री प्राप्त हुई।”

जैन साहित्य — आठवीं शताब्दी में जैन धर्मावलम्बियों ने अपने मत का प्रचार करना शुरू कर दिया । इन्होंने जैन तीर्थकरों के जीवन चरित व वैष्णव अवतारों की कथाएँ जैन आदर्शों के आवरण में रास नाम से पद्धबद्ध रचना करना प्रारम्भ कर दिया । जैन मन्दिरों में श्रावक लोग रात्रि में रास गायन करते थे । इनकी रचनाएँ उच्च कोटि के साहित्यिक दर्शन युक्त थी । चरित और रास

शब्द से पता चलता है कि इनके साहित्य में चरित्र पर विशेष जोर दिया गया । अपभ्रंश भाषा में रचित साहित्य के रचनाकारों में प्रमुख कवि स्वयंभू, पुष्यदन्त, धनपाल, देवसेन, शालिभद्रसूरि व हेमचन्द्र थे ।

स्वयंभू – इनका समय 783 ईस्वी के आसपास का माना गया है । इनकी तीन अपभ्रंश की रचनाएँ उपलब्ध हैं। 1. पउम चरिउ, 2. रिट्ठ-नेमिचरिउ, 3. स्वयंभूछन्द । 'पउमचरिउ' रचना में रामकथा का वर्णन है । यह रचना अत्यधिक प्रसिद्ध हुई । इसमें भक्ति की तन्मयता काव्य की सरसता एवं प्राकृतिक सौन्दर्य का सूक्ष्म वर्णन है। परवर्ती चरित काव्यों पर स्वयंभू की वर्णन शैली का प्रभाव स्पष्ट प्रकट होता है

पुष्यदन्त – इनका समय दसवीं शताब्दी के आस-पास का रहा है । इनके तीन प्रमुख ग्रंथ हैं 1. णयकुमार चरिउ 2. महापुराण 3. जसहर चरिउ । कवि पुष्यदन्त की काव्य रचना का उद्देश्य शुद्ध धार्मिक चरित्र प्रधान रचना से है । महापुराण के आदि पुराण खण्ड में तीर्थंकर ऋषभदेव, तेईस तीर्थंकरों तथा उनके समकालीन महापुरुषों का चरित है । उत्तर पुराणों में रामायण और हरिवंश (महाभारत) है । इनको अपभ्रंश भाषा का व्यास कहा जाता था । इन्होंने अपना काव्य दोहा और चौपाई में लिखा । जिसका प्रभाव रामचरितमानस पर दिखाई दिया । ये कश्यप गोत्रीय ब्राह्मण थे । जो मान्यखेट के प्रतापी राजा के महामात्य भीत के सभाकवि थे । महापुराण में इन्होंने लिखा ।

वोल्लई कोइल अंबयं कलियाई ।

कांकणि चंचरीउ रूण रूटई ॥

अर्थात् भगवान जिनेन्द्र की भक्ति से मेरा कवित्व वैसा ही उच्छ्वसित हो उठता है जैसे मधुमास में आम्र के बौर पर कोयल कूक उठती है। कानन में भ्रमर गूँजने लगते हैं । अतः पुष्यदन्त का महापुराण जैन धर्म का उत्तम कोटि ग्रंथ है ।

धनपाल – इनका समय 10वीं शताब्दी का रहा । इनकी रचना "भविष्यतकहा" है, जो अपभ्रंश का लोकप्रिय महाकाव्य है। ये धक्कड़ वैश्य कुल के थे । इनका मूल उद्देश्य श्रुतपंचमी व्रत के माहात्म्य को प्रतिपादित करना है । इनका कथानक लौकिक भाषा साहित्यिक मुहावरों एवं लोकोक्तियों से युक्त आलंकारिक एवं छन्द युक्त है। यह इस युग के कुशल कवि माने जाते हैं।

देवसेन – आचार्य देवसेन 933 ईस्वी के कवि थे। ये उत्तम कोटि के चिन्तक कवि हैं । अपभ्रंश में श्रावकाचार इनकी प्रसिद्ध रचना है । उसमें 250 दोहों में श्रावक धर्म को प्रतिपादित किया तथा गृहस्थ के कर्तव्यों को भी स्थान दिया है ।

जो जिन सासन भाषियउ, सो मई कहियउ सारु ।

जो पावई सई भाउ करि, सो सरि पावई पारु ॥

शालिभद्र सूरि – इनका समय 1184 ई० के लगभग माना जाता है। जैन साहित्य में रास परम्परा का प्रथम ग्रंथ भरतेश्वर बाहुबली रास को माना जाता है। ये इस युग के प्रसिद्ध आचार्य एवं कवि थे। इसमें अयोध्या के राज्य में ऋषभ के भरत और बाहुबली नाम के दो पुत्रों

की कथा है, जो वीरता और वैराग्य के लिए प्रसिद्ध रहे हैं। यह खण्ड काव्य 205 छन्दों में वर्णित है इसका उदाहरण इस प्रकार है ।

बोलई बाहुबली बलबन्त । लोह खण्डि तड गरवीउ हंत ।

चक्रसरीसउ चूनउ करिउ । सयल है गोत्रह कुल संहरउ ॥

इस प्रकार की उत्तम कोटि की काव्य रचना के कारण डॉ. गणपतिचन्द्र गुप्त ने इन्हें हिंदी का पहला कवि माना है ।

सोमप्रभसूरि – ये कुमारपाल नामक काव्य के रचयिता है । इन्होंने संस्कृत मिश्रित प्राकृत काव्य लिखा । इसमें अपभ्रंश की कहीं-कहीं छटा दिखाई देती है, जिनको दोहे के रूप में वर्णित किया है ।

जैनाचार्य मेरुतुंग – इनकी प्रसिद्ध रचना प्रबन्ध चिन्तामणि नामक ग्रंथ है। इसमें प्राचीन राजाओं की कथा दोहा शैली में रचित है यह ग्रंथ बहुत चर्चित रहा है। इसमें भोज के चाचा मुंज के कहे हुए कई बुद्धियुक्त दोहे हैं ।

जा मति पच्छई संपजई , सा मति पहली होई ।

मुंज भणई मृणावलई, विघन न बैठे कोइ । ॥

अर्थात् :- जो बुद्धि घटना के पीछे प्राप्त होती है यदि वह घटना के पहले प्राप्त हो जाए तो मुंज कहते हैं कि – हे! मृणालवति किसी को विघ्न नहीं आएगा ।

आसगु – कविकृत 'चन्दनबाला रास' नामक लघु खण्ड काव्य है । इनकी यह रचना 1200 वीं शताब्दी की मानी जाती है । कहते हैं कि यह जालौर में रची गई है । इसमें चन्दनबाला के सतीत्व की कथा है । जो अपने सतीत्व पर डटी रही और अंत में महावीर से दीक्षा लेकर मोक्ष प्राप्त की ।

जिनधर्मसूरि – इनकी रचना 'स्थूलिभद्र रास' जो है 1209 ईस्वी में लिखी गई है। स्थूलिभद्र पहले भोग विलास में लिप्त था । अंत में जैन धर्म में दीक्षा ले लेता है । इस पर अपभ्रंश भाषा का अधिक प्रभाव है ।

हेमचन्द्र – हेमचन्द्र का जन्म गुजरात के जैन परिवार में हुआ । इनका बचपन का नाम चंगदेव था । जब ये जैन धर्म में दीक्षित हुए तो इनका नाम हेमचन्द्र पड़ा । ये सूरि जैन साधु बनने पर हेमचन्द्र सूरि के नाम से प्रसिद्ध हुए । ये शब्दानुशासन के रचयिता है । इनको अपभ्रंशभाषा का पाणिनि भी कहते हैं । इनकी "शब्दानुशासन" और "छन्दोनुशासन" दो प्रमुख रचनाएँ हैं । इस प्रकार जैन साहित्य में विजयसेन सूरि की रचना रेवतागिरि, सुमति की नेमीनाथ रास अपभ्रंश की रचित रचनाएँ हैं । इस समय अपभ्रंश में राजस्थानी की छटा भी दिखाई देती है ।

नाथ साहित्य –

आदिकाल में सिद्ध साहित्य, जैन साहित्य तथा नाथ साहित्य अत्यधिक महत्त्वपूर्ण रहा है। डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है— "नाथपंथ या नाथसम्प्रदाय सिद्धमत, सिद्धमार्ग, योगमार्ग, योग सम्प्रदाय, अवधूतमत एवं अवधूत सम्प्रदाय के नाम से प्रसिद्ध है।" यह मुख्यतः ये दो सम्प्रदायों के नाम से विशेष जाना जाता है । 1. सिद्धमत 2. नाथमत। इन दो भागों के नाम से पुकारे जाने का

कारण है – पहला मत्स्येन्द्र नाथ तथा दूसरा गोरखनाथ । एक किंवदन्ती है कि गोरखनाथ मत्स्येन्द्र नाथ के शिष्य है, किन्तु मत्स्येन्द्रनाथ परम योगी होकर भी नारी साहचर्य के आचार में फँस गए । तब उनके शिष्य गोरखनाथ को पता चला तो उनको सजग किया, तब से यह कथा प्रचलित है ।

“जाग मच्छेन्द्र गोरख आयो ।”

गोरखनाथ – ये नाथ सम्प्रदाय के सशक्त प्रणेता थे । इस सम्प्रदाय के सुप्रसिद्ध योगी रहे हैं। राहुल सांकृत्यायन ने लिखा है – “इनका समय 845 ईस्वी. माना जाता है । गोरखनाथ से पहले अनेक सम्प्रदाय हुए, किन्तु उन सबका विलय हो गया, गोरखनाथ की रचनाओं में, गुरुमहिमा इन्द्रियनिग्रह, प्राणसाधना, वैराग्य, मन साधना, कुण्डलिनी जगाना तथा शून्य समाधि का वर्णन है । गोरख नाथ का हठ योग भक्तिकाल में कबीर का हठ योग है । हठयोग का तात्पर्य ‘ह’ का अर्थ सूर्य तथा ‘ठ’ का अर्थ चन्द्रमा है, अर्थात् सूर्य-चन्द्र को जाग्रत रखना है । हठ योग में मनकी शुद्धि पर विशेष ध्यान दिया गया है । इनकी कृतियों में षट् चक्रों पर विशेष ध्यान है ।

नोलख पातरि आगे नाचे, पीछे सहज अखाड़ा ।

ऐसे मन ले जोगी खेले, तब अंतरि बसे भंडारा ॥

यह मत जगत को अमूर्त मानता है ।

अंजन माहि निरंजन भेटया, तिलमुख भेटया तेल ॥

मूरत माहि अमूरत परस्या, भया निरन्तर खेल ।

इनकी भाषा सिद्धों की भाषा थी । इसलिए नाथ सम्प्रदाय को बौद्ध धर्म के वज्रयान, सहजयान शाखा से निकला हुआ मानते हैं ।

चर्पटनाथ – ये गोरखनाथ के शिष्य थे । जो बाह्य आडम्बारों को रखने वाले साधुओं को फटकारते थे ।

“इक सेति पटा, इक नील पटा । इक तिलक जनेऊ, इक लंबि जटा” ।

ये जाति के ब्राह्मण होने के कारण बड़े आचार-विचार वाले योगी थे, किन्तु आडम्बर और पाखण्ड के विरोधी थे ।

चौरंगीनाथ – ये मत्स्येन्द्र नाथ के शिष्य और गोरखनाथ के गुरु भाई थे । डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी ने बताया कि पंजाब की लोक कथाओं में पूरन भगत की कथा की चर्चा होती रही है । वे चौरंगी नाथ ही थे । ये पहुँचे हुए सिद्धयोगी थे । इनकी रचना “प्राण सांकली” है । अतः 13 वीं शताब्दी में नाथ सम्प्रदाय का प्रचार तेज गति से हुआ । इन्होंने अपनी रचना शैली को उपदेशपरक बनाकर संसार की माया और मोह का खण्डन किया । इनका रहस्यवाद आगे चलकर कबीर के काव्य में प्रकट होता है । हिन्दी साहित्य में नाथ सम्प्रदाय का प्रभाव इस प्रकार रहा ।

1. बौद्धधर्म के प्रचार को कम करना, ईश्वरवाद में आस्था का प्रसार करना तथा अन्तःसाधना पर जोर देना ।
2. भारतीय मनोवृत्ति के अनुकूल आचरण कर जन जीवन में स्थान बनाना ।

3. योग क्रियाओं का समावेश कर के अनाचारी जीवन के प्रति वितृष्णा का भाव भरकर नाथों के जीवन को सदाचारी बनाना।

डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार— “नाथ सम्प्रदाय ने परवर्ती सन्तों के लिए श्रद्धाचरण प्रधान धर्म की पृष्ठभूमि तैयार कर दी, जिन सन्त साधकों की रचनाओं से हिन्दी साहित्य गौरवान्वित है, उन्हें बहुत कुछ बनी बनाई भूमि मिल गई।”

रासो साहित्य :-

आदिकाल में रासो ग्रंथ पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि हिन्दी के प्रारम्भिक काल में निरन्तर एवं निर्बाध रूप से रासो लिखे गए। “रासो” शब्द की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों के मत प्रचलित हैं। फ्रांसीसी इतिहासकार गार्सा-द-तासी ने रासो शब्द की व्युत्पत्ति राजसूय से मानी है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल “रसायण शब्द” से मानते हैं। शुक्ल के अनुसार बीसलदेव रासो में रसायण शब्द बार-बार आया है।

नरोत्तम स्वामी ने रसिक शब्द से तथा आचार्य चन्द्रवली पाण्डेय एवं आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने संस्कृत के ‘रासक’ शब्द से ही रासो की व्युत्पत्ति बताई है। द्विवेदी ने कहा रासक वस्तुतः एक विशेष प्रकार का खेल या मनोरंजन है, रास में भी वही भाव है। वास्तव में रासो राजस्थानी भाषा (डिंगल) में राज्याश्रय कवियों (विशेष रूप से चारण जाति के कवियों) द्वारा युद्धों का चित्रण, वीरता के यशोगान को अतिशयोक्ति पूर्ण ढंग से धारा प्रवाह ओजस्वी भाषा शैली में लिखा गया काव्य है। आचार्य शुक्ल ने रासो ग्रंथों के आधार पर ही हिन्दी साहित्य के प्रथम काल का नामकरण वीरगाथा काल के रूप में किया। वीरगाथा काल में प्राप्त रासो कृतियाँ खुमानरासो, हम्मीररासो, बीसलदेवरासो, परमालरासो, पृथ्वीराजरासो, विजयपालरासो हैं।

खुमान रासो – आदिकाल की इस रचना का समय नवीं शताब्दी है। इसे चित्तौड़गढ़ नरेश खुमाण के समकालीन कवि दलपत विजय द्वारा रचित माना गया है, किन्तु कुछ विद्वान इसे 17 वीं शताब्दी की रचना मानते हैं। इसमें 17वीं शताब्दी के राजा राजसिंह का भी वर्णन है, लेकिन 870-890 के समय बगदाद के धर्मगुरु (खलीफा) आलमामू के द्वारा चित्तौड़ पर किए गए आक्रमण का भी वर्णन है। इससे ऐसा लगता है कि नवीं शताब्दी के बाद प्रक्षिप्त अंश बाद में जोड़े गए हैं। इसमें खुमान द्वारा खलीफा को परास्त करने का वर्णन है। वीररस के साथ-साथ शृंगार की धारा भी बही है। इसकी भाषा भी डिंगल है।

संदेसा पिन साहिबा, पाछो फिरिय न देह ।

पंछी घाल्या पिंजरे, छूटण रो सन्देह ॥

हम्मीर रासो – कवि शाङ्गधर कृत हम्मीर रासो रणथम्भौर के राव हम्मीर देव के शौर्य की गाथा है। इसका समय 13वीं शताब्दी बताया जाता है। अलाउद्दीन खिलजी द्वारा 1301 में रणथम्भौर पर किए गए आक्रमण का वृत्तान्त बताया जाता है। प्राकृत पैंगलम में इसके कुछ छन्द मिलते हैं। इसकी कृति उपलब्ध नहीं है।

बीसलदेव रासो – इस कृति के रचयिता कवि नरपति नाल्ह है। इसकी रचना कुछ विद्वानों ने विक्रम सं. 1272 मानी है, जिसका प्रमाण कृति में दिया है।

बारह सौ बहोत्तराहा मंझारि । जेठ बदी नवमी बुधिवारी ॥

नाल्ह रसायण आरम्भई । सारदा तूठी ब्रह्मकुमारी ॥

लेकिन अधिकतर विद्वान् वि. 1212 में इसके रचना काल स्वीकारते हैं। इसमें अजमेर के चौहान वंशीय राजा बीसलदेव का विवाह मालवा के राजा भोज परमार की पुत्री राजमती से हुआ, किन्तु राजमती और बीसलदेव में आपसी संवाद के कारण बीसलदेव राजमती को छोड़कर उड़ीसा चला गया । वह बारह वर्ष तक वहीं रहा । इस कृति में राजमती की विरहगाथा है ।

रानी राजमती नारी गरिमा से युक्त एक संस्कारित स्त्री है और बीसलदेव सामन्ती जीवन का अभिमानी राजा । इस काव्य की भावभूमि निश्चल प्रेम एवं नारी स्वाभिमान की भावना से ओतप्रोत है ।

परमाल रासो — कवि जगनिक कालिंजर (चंदेल राज्य) के राजा परमार्दिदेव का राज्याश्रयी कवि था। इसी के यहाँ बनाफर शाखा के दो क्षत्रिय वीर आल्हा और ऊदल रहते थे। इन दोनों वीरों की युद्ध में वीर गति को प्राप्त होने पर जगनिक कवि ने अद्भुत शौर्य गाथा को काव्य में लिखा । इसे आल्हा खण्ड के नाम से भी जानते हैं । इसकी रचना 13वीं शताब्दी की मानी जाती है, किन्तु इसकी प्रामाणिकता संदिग्ध है ।

विजयपाल रासो — विजयपाल रासो को मिश्रबन्धुओं ने सं. 1355 का ग्रंथ माना है । जिसकी रचना कवि नल्हसिंह ने की है। इसमें राजा विजयपाल की विजय यात्राओं का वर्णन है। कुछ विद्वान इसे 16वीं शताब्दी की रचना मानते हैं । इसमें 42 छन्द मिलते हैं, किन्तु यह कृति अपूर्ण है ।

पृथ्वीराज रासो — वीरगाथा काल की सुप्रसिद्ध रचना चंदबरदायी कृत पृथ्वीराज रासो एक विवादास्पद कृति है । पृथ्वीराज रासो के चार संस्करण मिलते हैं । इससे यह पता लगाना कठिन है कि इनमें से प्रामाणिक ग्रंथ कौनसा है । पृथ्वीराज रासो की प्रामाणिकता पर दो पक्ष हैं । एक पक्ष उसे पूर्णतया अप्रामाणिक मानता है। जिसके समर्थक हैं कविराज श्यामलदास, गौरीशंकर हीराचंद ओझा, मुंशी देवी प्रसाद, डॉ. बूलर और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, किन्तु रामचन्द्र शुक्ल इसे वीरगाथा काल की रचना मानते हुए इसके महत्त्व को नकार नहीं सके। इन्होंने तो चंदबरदायी को हिंदी का पहला कवि और पृथ्वीराज रासो को हिन्दी का प्रथम महाकाव्य माना है । दूसरा पक्ष वह है जो इसे प्रामाणिक मानते हैं इस मत के समर्थक हैं बाबू श्यामसुन्दर दास, पं. मोहनलाल विष्णुलाल पण्ड्या, मथुरा प्रसाद दीक्षित, मिश्रबन्धु तथा कर्नल टॉड है तथा तीसरा पक्ष पृथ्वीराज रासो को अर्द्ध प्रामाणिक मानता है। इस सम्बन्ध में आधुनिकतम एवं ठोस मत आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का है । ये इसे अर्द्ध प्रामाणिक मानते हैं । द्विवेदी का मत है कि रासो की संवाद शैली अन्य रासो ग्रंथों यथा सन्देशरासक से मिलती है। रासो में बारहवीं शताब्दी की भाषागत प्रवृत्तियाँ मिलती हैं । यह शुद्ध ऐतिहासिक न होकर काव्य ग्रंथ है । रासो में वे सर्ग प्रामाणिक हैं जिनका प्रारम्भ शुक-शुकी संवाद से होता है। ये प्रामाणिक अंश बाद में जोड़े गये हैं । चन्दबरदायी ऐसे सहज प्रफुल्ल कवि के रूप में दृष्टिगत होते हैं जो विषम परिस्थितियों में भी जीवन रस सींचते रहते हैं। अतः द्विवेदी ने लिखा है कि पृथ्वीराज रासो एकदम अप्रामाणिक पुस्तक नहीं है। इसकी कुछ प्रामाणिकता

प्राप्त होती है जैसे आरम्भिक अंश, इच्छिनी विवाह शशिव्रत का गन्धर्व विवाह, संयोगिता का जन्म-विवाह इस प्रकार पृथ्वीराजरासो की कथा ऐतिहासिक है। चंदबरदायी चौहान वंशीय पृथ्वीराज चौहान के प्रिय सखा एवं दरबारी कवि थे। जब शहाबुद्दीन गौरी ने पृथ्वीराज को बंदी बनाकर गजनी ले गया तब पृथ्वीराज चौहान को बचाने के लिए चंदबरदायी स्वयं भी साथ गये और शब्दवेदी बाण चलाने में कुशल पृथ्वीराज का कौशल गजनी में दिखाया। इस शब्दवेदी बाण के पश्चात् दोनों मित्रों ने वहीं प्राण त्याग दिए। इसमें पृथ्वीराज की वीरता शौर्य एवं पराक्रम का सुन्दर चित्रण है। इस कारण यह महाकाव्य की श्रेणी में आता है। कहते हैं कि चंद पृथ्वीराज के साथ जाते समय अपने इस ग्रंथ को पुत्र जल्हण के हाथ में सौंप गए थे। **“पुस्तक जल्हण हत्थ दे, चलि गज्जन नृप काज।”**

आदिकाल की अन्य रचनाएँ एवं कवि –

सन्देशरासो – सन्देशरासो के रचयिता अब्दुर्रहमान (अद्दहमाण) है। यह अपभ्रंश का महाग्रंथ है। इसमें ऐतिहासिकता के साथ-साथ साहित्यिक छटा भी बिखरी पड़ी है। सन्देश रासो में हृदय की मर्मवेदना का चित्रण है। इस प्रकार के प्रामाणिक ग्रंथ साहित्य के अन्धकार में एक ज्योति का कार्य करते हैं। यह वीररस के काव्यों से भिन्न परम्परा का रासो है। इसमें विरहिणी के वियोग की मार्मिकता है। एक विरहिणी एक पथिक के साथ अपने पति के पास सन्देश भेजती है। द्विवेदी लिखते हैं कि इस सन्देश में ऐसी करुणा है, जो पाठक को बरबस आकृष्ट करती है। इसमें कुल 216 छन्द हैं।

प्राकृत पेंगलम – इस ग्रंथ के संकलनकर्ता लक्ष्मीधर है। इसमें आदिकालीन साहित्य का स्वरूप दिखाई देता है। इसमें विद्याधर, शार्ङ्गधर, जज्जल एवं बब्बर आदि कवियों की रचनाओं का संग्रह है। विद्याधर काशी में कान्यकुब्ज दरबार के एक बहुत ही कुशल एवं विद्वान मंत्री थे। यह जयचन्द के विश्वास पात्र मंत्री थे। दूसरा महत्त्वपूर्ण कवि शार्ङ्गधर है इन्होंने एक सुभाषित ग्रंथ की रचना की जो शार्ङ्गधर पद्धति के नाम से प्रसिद्ध है। शुक्ल जी ने इसी शार्ङ्गधर के द्वारा रचित हम्मीर रासो की चर्चा की है। तीसरा महत्त्वपूर्ण जज्जल नाम कवि है। ‘जज्जल भणइ’ पद से राहुल जी इसे जज्जल कवि की रचना माना है।

“हम्मीर कज्जु जज्जल भणइ कोहाणल मुहमद जलउ”

चौथा महत्त्वपूर्ण कवि बब्बर है। यह 11वीं शताब्दी का कवि है। यह राज कर्ण कलचुरी के दरबारी कवि थे। इसका निवास स्थान त्रिपुरी था। इनका कोई विशिष्ट ग्रंथ नहीं मिलता है। प्राकृत पेंगलम एक प्रामाणिक ग्रंथ है। इसलिए आदिकाल हिन्दी साहित्य की प्रवृत्ति का अध्ययन करने के लिए इसका अत्यधिक महत्त्व है।

ढोला-मारू रा दूहा :- यह 11वीं शताब्दी की एक महत्त्वपूर्ण रचना है। कवि कुशललाभ द्वारा रचित राजस्थानी भाषा का एक प्रेमाख्यान काव्य है। इसमें ढोला नामक राजकुमार और मारवणी नामक राजकुमारी की प्रेम कथा है। कछवाह वंश का राजा नल का पुत्र ढोला जिस समय तीन वर्ष का था और पूंगल के राजा पिंगल की कन्या मारवणी डेढ़ वर्ष की थी तब ही दोनों का विवाह हो गया। ढोला के युवा होने पर उसका विवाह मालवा की राजकुमारी

मालवणी से हो जाता है। मारवणी अर्थात् मारू ढाढ़ियों (गाँव-गाँव में जाकर गीत गाने वाली एक प्रकार की जाति) के साथ ढोला तक सन्देश पहुँचाती है। तब ढोला अपनी मारवणी (मारू) को लेने के लिए पूंगल देश जाता है और तब मारू से मिलन होता है। 'ढोला-मारू रा दूहा' आज भी अत्यधिक लोकप्रिय है। यह शृंगार रस का काव्य है। इसमें भाव गाम्भीर्य और राजस्थानी भाषा का परिष्कृत रूप देखने को मिलता है। साहित्य में यह उक्ति प्रचलित है।

सोरठियो दूहो भलो, भति मरवण री बात ।

जोवन छाई घण भली, तारां छाई रात ॥

खुसरो की पहेलियाँ – खुसरो का वास्तविक नाम अबुल हसन था। खुसरो इनका उपनाम था। इनका जन्म गाँव पटियाली जिला एटा में हुआ। इनका समय गुलाम वंश से लेकर तुगलक वंश तक का रहा है। ये विनोदी स्वभाव, मिलनसार एवं उदार व्यक्ति थे। इनमें साम्प्रदायिक कट्टरता नहीं थी। निजामुद्दीन औलिया इनके गुरु थे। इनको गुरु औलिया की मृत्यु के समाचार मिले तो उनकी कब्र के पास पहुँचे और कहा –

गौरी सोवे सेज पर, मुख पर डारे केस ।

चल खुसरो घर आपने, रैन भई चहुँ देस ॥

इनके पास जो कुछ था सब लुटा दिया और स्वयं अपने गुरु औलिया की मजार के पास बैठ गए। इनकी मृत्यु पर इनकी कब्र भी औलिया की कब्र के पास ही बनाई गई। खुसरो को अरबी, फारसी, तुर्की एवं हिंदी का अच्छा ज्ञान था। इन्होंने खालिकबारी, पहेलियाँ लिखीं जो लोक साहित्य में बहुत प्रचलित हुईं। खुसरो की पहेलियाँ हिंदी साहित्य का अनमोल रत्न हैं।

एक थाल मोती से भरा, सबके सिर पर औँधा धरा

चारों और वह थाली फिरे, मोती इससे एक न गिरा (आकाश)

खेत में उपजे सब कोई खाये, घर में उपजे घर को खाये (फूट)

पाँचों के सिर काट दिये, न मारा, ना खून किया (नाखून)

विद्यापति :- आदिकाल के विशिष्ट कवि मैथिल कोकिल विद्यापति का जन्म बिहार के दरभंगा जिले के गाँव विसपी में हुआ। ये तिरहुत के राजा शिवसिंह के आश्रित कवि थे। महाराज शिवसिंह तथा उनकी रानी लखिमा देवी शैव मत की अनुयायी थीं। विद्यापति भी शिवभक्त थे। इनके बहुमुखी व्यक्तित्व में पांडित्य, कला, साहित्य, रसिकता, भावुकता का अद्भुत समन्वय है। इन्हीं गुणों के कारण महाराज शिवसिंह ने इन्हें अपना सखा व सभा-कवि बनाया। विद्यापति ने अपने आश्रयदाता की वीरता पर कीर्तिलता एवं कीर्तिपताका नामक दो ग्रंथ लिखे। इसमें वीररस के साथ-साथ कहीं-कहीं शृंगार की छटा भी दिखाई देती है। इन कृतियों में अपभ्रंश के स्थान पर अवहट्ट भाषा का प्रयोग किया गया।

अतः यह दोनों अवहट्ट भाषा के ग्रंथ हैं। कहते हैं कि रानी लखिमा देवी के कहने पर इन्होंने राधा-कृष्ण की भक्ति के रूप में 'विद्यापति पदावली' की रचना की है। इसमें माधुर्यभाव भरा संगीत है। इसी कारण इनको "अभिनव जयदेव" भी कहते हैं। विद्यापति पदावली को कई

विद्वान् भक्तिरस की न मानकर शृंगारिक मानते हैं । शृंगारिक कवि मानने वाले विद्वानों में आचार्य रामचंद्र शुक्ल, रामवृक्ष, बेनीपुरी, डॉ. रामकुमार वर्मा । इनका एक उदाहरण द्रष्टव्य है —

कामिनी करए सनाने, हेर तहि हृदय हनए पंचबाने ।

चिकुर गरए जलधारा, जनिमुख सनि उर रोअए अंधारा ॥

इसे देखकर डॉ. रामकुमार वर्मा कहते हैं, विद्यापति के बाह्य संसार में भगवत भजन कहाँ, इस वयः संधि में ईश्वर कहाँ, सद्यःस्नाता में ईश्वर से नाता कहाँ, अभिसार में भक्ति का सार कहाँ ? किन्तु कुछ विद्वान् इनको भक्त कवि मानते हैं । बाबू श्यामसुन्दर दास, पंडित हरप्रसाद शास्त्री, पंडित शिवनन्दन ठाकुर प्रो. जनार्दन मिश्र तथा हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ आलोचक एवं भक्ति साहित्य के मर्मज्ञ आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने विद्यापति की चर्चा भक्त कवियों के प्रसंग में की है ।

उनकी पदावली को धर्मग्रंथ एवं भक्ति साहित्य में नई प्रेरणा देने वाला माना है । बंगाल, असम एवं उड़ीसा के वैष्णव भक्तों का यह विशेष प्रिय ग्रंथ रहा है ।

जय जय शंकर, जय त्रिपुरारी ।

जय अध पुरुश, जयति अधनारी ॥

कहते हैं— चैतन्य महाप्रभु विद्यापति के पद गाते-गाते बेहोश होकर गिर जाते थे । इसलिए तो विद्यापति की पदावली चैतन्य सम्प्रदाय में धार्मिक ग्रंथ के समान पूजित है । पूर्वी भारत में वैष्णव सम्प्रदाय में विद्यापति के पदों का भक्तिपरक भजनों के रूप में ग्रहण होना भक्ति भावना का प्रमाण है । विद्यापति आदिकाल के उत्तरार्द्ध में संक्रांति काल के कवि होने के कारण विगत और अनागत युगों के साहित्य का सहज प्रतिबिम्ब इनके काव्य में परिलक्षित होता है।

आदिकाल का गद्यसाहित्य —

आदिकाल के साहित्य में गद्य रचना बहुत लिखी जाती थी, किन्तु कुछ कवियों ने गद्य-पद्य (चम्पूकाव्य) साहित्य लिखकर साहित्य के खजाने को अद्भुत रत्न दिए हैं । इनमें प्रमुख रोड़ा नामक कवि कृत 'राउलवेल' (यह गद्य और पद्य का मिश्रित रूप चम्पू रचना है) दामोदर कृत 'उक्ति व्यक्ति प्रकरण' तथा ज्योतिरीश्वर ठाकुर कृत 'वर्ण रत्नाकर' गद्य की कृतियाँ हैं ।

राउलवेल — इसका रचना काल 10वीं शताब्दी माना जाता है । यह गद्य-पद्य मिश्रित (चम्पूकाव्य) की प्राचीनतम कृति है । इसमें राउल नामक नायिका के नख-शिख वर्णन का प्रसंग है । पहले सौन्दर्य का पद्य में वर्णन किया बाद में गद्य में इसे वर्णित किया । डॉ. नगेन्द्र के अनुसार "इसी काल में हिन्दी में नख-शिख शृंगार आरम्भ होता है । इसमें उपमा, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों का भी प्रयोग हुआ है ।"

उक्ति व्यक्ति प्रकरण — महाराज गोविन्दचन्द का शासन काल 12वीं शताब्दी में रहा था । इनके सभा पण्डित दामोदर शर्मा ने 12वीं शताब्दी में इस ग्रंथ की रचना की । डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में "उक्ति-व्यक्ति" प्रकरण एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है । इसमें गद्य और पद्य दोनों शैलियों में तत्सम शब्दावली का प्रयोग हुआ है । इससे बनारस और आस-पास के प्रदेशों की संस्कृति और भाषा आदि पर अच्छा प्रभाव पड़ा है । हिन्दी व्याकरण पर भी इस समय ध्यान दिया जाने लगा ।"

वर्ण रत्नाकर – इस ग्रंथ का प्रकाशन डॉ. सुनीति कुमार चटर्जी और पंडित बबुआ मिश्र के सम्पादन में बंगाल एशियाटिक सोसाइटी से हुआ। यह 14वीं शताब्दी की रचना है। इसके लेखक ज्योतिरीश्वर ठाकुर नामक मैथिली कवि है। इसकी भाषा आलंकारिक एवं कवित्वपूर्ण है। नायिका का वर्णन भी तत्सम शब्दावली में किया है। “उज्ज्वल कोमल लोहित सम संतुल सालंकार पंचगुण सम्पूर्ण चरण” इस प्रकार हिन्दी गद्य की ये प्रमुख कृतियों का हिन्दी साहित्य में महत्त्वपूर्ण योगदान है। तब से गद्य रचना का प्रवाह अखण्ड रूप से प्रवाहित हो रहा है।

आदिकालीन हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियाँ –

हिन्दी साहित्य में किसी काल की प्रवृत्तियाँ उसके उपलब्ध साहित्य सामग्री के आधार पर निर्धारित की जाती हैं। उस समय की साहित्यिक कृतियों का विश्लेषण करने से ज्ञात होता है कि इस काल के साहित्य की क्या विशेषताएँ रही हैं। आदिकाल भाषा की दृष्टि से संक्रान्ति काल रहा है और भावों की दृष्टि से आध्यात्मिक तथा चरित्र प्रधान काव्य एवं बाद में वीररस व शृंगारिक रस से युक्त रहा। सातवीं शताब्दी का काल अपभ्रंश साहित्य का अभ्युदय काल था, किन्तु अपभ्रंश में भी धीरे-धीरे अवहट्ट या पुरानी हिंदी का समावेश हो रहा था, जिसके कारण यह परिनिष्ठित अपभ्रंश या पुरानी हिंदी का रूप धारण कर रही थी फिर भी साहित्यिक प्रवृत्तियाँ अपना रूप लिए हुए थीं। अतः प्रमुख प्रवृत्तियों का निरूपण करते हैं तो अनेक प्रवृत्तियाँ सामने आती हैं।

1. वीरगाथात्मक काव्य रचनाएँ :- आदिकालीन साहित्य में वीरगाथाओं का विशेष प्रचलन था, जिसमें कवि अपने आश्रयदाताओं की वीरता साहस, शौर्य एवं पराक्रम को अतिरंजित बनाकर प्रस्तुत करते थे। युद्धों का सजीव चित्रण किया जाता था। इन युद्धों का कारण नारी सौन्दर्य या साम्राज्य विस्तार की लालसा रहती थी। राज्यों को विजय करके अपने साम्राज्य में मिलाना एवं शक्ति का विस्तार करना था। आश्रयदाताओं को प्रसन्न करने के लिए कविगण उनकी प्रशंसा को अतिशयोक्तिपूर्ण ढंग से वर्णित करते थे। इस काल का रासो साहित्य इसका प्रमाण है। इसलिए रामचन्द्र शुक्ल ने इस काल का नाम वीरगाथा काल रखा।

2. युद्धों का वर्णन – आदिकालीन साहित्य से प्रतीत होता है कि राजा का प्रजा पर ध्यान कम और अपने साम्राज्य विस्तार का ध्यान ज्यादा रखता था, जिसके कारण आए दिन युद्ध के बिगुल बज उठते थे। तत्कालीन कवियों ने काव्यों में युद्धों का सजीव वर्णन करके जनसमूह में एक चेतना प्रकट की और कहा युद्ध यदि आवश्यक है तो करना चाहिए। युद्ध के समय सेना में ओजस्वी और वीररस के भावों से कवि सैनिकों में जोश एवं उत्साह भर देते थे।

3. संकुचित राष्ट्रीयता :- आदिकाल के चारण कवियों द्वारा आश्रयदाताओं की स्तुति तथा प्रशंसा इस प्रकार की गई कि देशद्रोही जयचंद का भी गुणानुवाद कर दिया। जयचंद की प्रशंसा में ‘जयचंद प्रकाश’ (भट्ट केदार कृत) तथा ‘जयमंयक जस चन्द्रिका’ (मधुकर कवि कृत) नामक ग्रंथ लिखे। उस समय राष्ट्र का मतलब एक राजा या सामन्त की राज्य सीमा थी, जिसे वह अपना मानते थे। सम्पूर्ण भारत को राष्ट्र नहीं समझा गया। इसी कारण पृथ्वीराज चौहान को शहाबुद्दीन गौरी ने परास्त किया।

4. लोकभाषा साहित्य – सातवीं शताब्दी से दसवीं शताब्दी की अपभ्रंश लोक-भाषा के रूप में प्रचलित रही । इस समय के सिद्धाचार्यों जैनाचार्यों एवं नाथ सम्प्रदाय के अनुयायियों ने लोक भाषा में ही अपनी रचनाएँ प्रस्तुत की । जिसमें कर्मकाण्ड, आडम्बर व ब्राह्मण मत का विरोधी स्वर उभरकर आया और जनता में नई चेतना जाग्रत हुई । डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा – “साहित्य में प्रधान रूप से इस समय का साहित्य धार्मिक है, इसमें सहज जीवन पर, आन्तरिक शुचिता पर और सच्चाई के जीवन पर अधिक जोर दिया गया।”

5. वीर और शृंगार रस का समन्वय – इस समय की साहित्यिक रचनाओं से ज्ञात होता है कि कवि वीररस और शृंगार रस को साथ-साथ लिख रहे थे । इस समय के कई युद्ध साम्राज्य विस्तार के साथ नारी सौन्दर्य की लालसा में भी लड़े गए थे । रणथम्भौर का युद्ध 1301 ईस्वी. में राव हम्मीर और अलाउद्दीन खिलजी के बीच हुआ । ‘हम्मीर रासो’ और ‘खुमान रासो’ में भी वीररस के साथ शृंगार रस की अभिव्यक्ति हुई है । पृथ्वीराज रासो में भी नारी सौन्दर्य का चित्रण है । बीसलदेव रासो में तो विप्रलम्भ शृंगार का सुन्दर निर्वाह किया गया है । ‘कीर्तिलता’ और ‘कीर्तिपताका’ वीररस की कृति है, तो ‘विद्यापति पद्यावली’ में अद्भुत नारी सौन्दर्य की छटा दिखाई देती है ।

6. ऐतिहासिकता की अपेक्षा कल्पना की प्रधानता – राज्याश्रित कवियों का लक्ष्य राजा की प्रशंसा करना था । उनकी दृष्टि में ऐतिहासिकता गौण थी । वे अपनी प्रतिभा को मात्र पोषित करते थे प्रकट नहीं । इसलिए उनके कवित्व के प्रदर्शन में केवल उनका स्वार्थमय जीवन निर्वाह का उद्देश्य रहता था । राजा को कल्पना लोक में विचरण कराते रहते और वास्तविकता से दूर रखते थे तथा अतिशयोक्ति युक्त वर्णन करके आश्रयदाता को प्रसन्न रखते थे, यही इन कवियों का उद्देश्य था ।

7. प्रबन्ध एवं मुक्तक गीत – आदिकालीन काव्य दो रूपों में मिलता है । पहला प्रबन्ध काव्य जो चरित काव्य के रूप में चित्रित होते थे जैसे :- जैन साहित्य में चरित काव्यों की परम्परा रही है तथा प्रबन्ध काव्य वीरगाथा के रूप में पृथ्वीराज रासो तथा दूसरा मुक्तक गीति काव्य ‘बीसलदेव रासो’ वर्णित है ।

8. डिंगल भाषा युक्त काव्य – आदिकाल को शुक्ल जी ने वीरगाथा काल इसी डिंगल भाषा में रचित रासो साहित्य के कारण कहा है । इस काल में राजस्थानी भाषा में जो साहित्य रचा गया वह डिंगल भाषा का साहित्य है ।

इस प्रकार आदिकालीन साहित्य की प्रवृत्तियों में सिद्धों की वाणी, जैनाचार्यों के चरित काव्य, धार्मिक सिद्धान्त, साधनापद्धति, वीर एवं शृंगार रस से युक्त प्रबंध एवं मुक्त गीति काव्य, अपभ्रंश, अवहट्ट एवं डिंगल भाषा में रचित काव्य है । इसमें दोहा, सोरठा छन्द का बाहुल्य है, जिसका उद्देश्य लोकचेतना, लोकरंजन तथा लोकोन्मुख रहा है, जिसमें फागु, चर्चरी, खुसरो की पहेलियाँ आदि तथा रासो काव्यों में युद्धों का चित्रण तथा शृंगार रस (संयोग और वियोग) विशेष रूप से विप्रलम्भ ‘बीसलदेव रासो’ एवं ‘सन्देश रासो’ में देखने को मिलता है । छन्दों में दोहा और सोरठा के साथ छप्पय, अरिल्ल, उल्लाला का प्रयोग हुआ ।

आदिकालीन साहित्य का युगीन परिवेश –

आदिकालीन साहित्य की तत्कालीन परिस्थितियाँ साहित्य को पूर्ण रूप से प्रभावित कर रही थी। यह सत्य है कि साहित्य समाज का दर्पण है। उसकी सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक एवं आर्थिक स्थिति का प्रभाव साहित्य पर अवश्य पड़ता है, क्योंकि साहित्यकार उसी युगीन परिवेश को अपने काव्य में उतारता है। इस समय का धार्मिक सामाजिक व राजनीतिक वातावरण पूर्ण रूप से दूषित हो गया था। हर्षवर्द्धन के शासन काल के पश्चात् विदेशी शक्तियों के आक्रमणों ने हिन्दू संस्कृति को झकझोर दिया। इस कारण समाज जातिवाद, धर्मवाद एवं विभिन्न मत मतान्तरों से समाज बँट गया था। क्षत्रियों में वीरता एवं बलिदान की प्रतिस्पर्धा हो रही थी। उसका प्रभाव समाज की मर्यादा पर भी पड़ रहा था। नारियाँ युवावस्था में ही विधवा हो जाती थीं। पुनर्विवाह की परम्परा नहीं थी। नारियाँ भी मरण को वरण करने के लिए तैयार रहती थीं, इसीलिए पति की मृत्यु के बाद जौहर कर लेती थीं। नारी केवल भोग्य समझी जाती थी। इसीलिए राजाओं में बहुविवाह परम्परा पनप चुकी थी। इस समय बार-बार युद्ध होने के कारण जन-धन की हानि होती थी, जिससे आर्थिक दशा खराब होने के कारण समाज के लिए घातक थी। जनता असहाय, पीड़ित एवं दुःखी रहती थी। धर्म के नाम पर आडम्बरों और पाखण्डों का बोलबाला हो गया। बौद्धधर्म भी हीनयान-महायान, वज्रयान सहजयान आदि विभिन्न सम्प्रदायों में विभक्त होकर कर्मकाण्डों से युक्त हो गया। जैन सम्प्रदाय भी वाममार्गी उपासना पद्धति से दूर नहीं रह सका। वैष्णव धर्म में अनेक सम्प्रदायों ने अपनी जगह बना ली और शैव, शाक्त आदि यौगिक क्रियाओं से चमत्कार दिखाकर समाज को भ्रमित कर रहे थे। इसलिए धर्म में अत्यधिक वितण्डावाद का बोलबाला था। अशिक्षित जनता उनके जाल में फँस जाती थी। दूसरी तरफ इस्लामी शक्तियाँ आक्रमण करके हिन्दुओं के मन्दिर एवं मूर्तियों को ध्वस्त कर रही थी। जिससे हिंदू जनता में ईश्वर के नाम से विश्वास उठ गया था। इसी समय दक्षिण के संत शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, निम्बार्काचार्य आदि अपने दार्शनिक मतों के द्वारा आस्था बनाए रखने का सन्देश देते हुए धार्मिक दृष्टि से सम्पूर्ण भारत को एक सूत्र में जोड़ रहे थे। इन्हीं परिस्थितियों में सिद्धाचार्यों ने अपना धार्मिक दर्शन भी व्यक्त किया। यह अंतःसंघर्ष का समय था। इस समय भाषा में भी संक्रांति काल चल रहा था। अपभ्रंश के स्थान पर परिनिष्ठित अपभ्रंश जो संस्कृत भाषा के प्रभाव के कारण तत्सम शब्दावली युक्त बन रही थी। 10वीं से 12वीं शताब्दी तक का काल संस्कृत साहित्य के लिए अनुपम योगदान का काल रहा। इस युग में साहित्यकार दण्डी, राजशेखर, भवभूति, कल्हण, जयदेव, कुन्तल एवं सोमदेव जैसे संस्कृत के आचार्य थे, जिनका प्रभाव काव्य कला एवं भाषा की दृष्टि से तत्कालीन हिंदी साहित्य के रचनाकारों पर भी पड़ रहा था। इस समय हिंदी भाषा की एक उपभाषा राजस्थानी में चारण एवं भाट कवियों ने रासो काव्य लिखना प्रारम्भ किया। रासो में ओजगुण व वीररस युक्त शब्दावली होने के कारण यह जनप्रिय बन गई। रासो में वीररस के साथ-साथ शृंगारिक भावों को भी स्थान दिया गया। रासो इस युग का सबसे लोक प्रिय ग्रंथ है। इस प्रकार हिन्दी भाषा के क्षेत्र में राजस्थानी (डिंगल) तत्सम शब्दावली (संस्कृत शब्द) तथा इस्लामी सम्पर्क होने के कारण अरबी, फारसी व तुर्की के शब्दों का प्रयोग होने लगा। हिन्दी में अमीर खुसरो की पहेलियों में इनका प्रयोग देखा गया है। अतः आदिकाल में आपसी राज्यों का अंतः संघर्ष धार्मिक मत-मतान्तरों का संघर्ष तथा भाषा भी संक्रमणता से युक्त

रही तथा इस संघर्ष के काल में विभिन्न प्रकार की साहित्यिक प्रवृत्तियाँ इस युग की विशेषताएँ बनकर रहीं।

उपसंहार — हिन्दी साहित्य का आदिकाल प्रारम्भ से लेकर अंत तक विविधताओं से युक्त है। यह हिन्दी साहित्य की बुनियाद है। इस काल की भाषा से लेकर काव्य सौन्दर्य तक ने परवर्तीकाल के साहित्यकारों को प्रभावित किया है। वीर और शृंगार रस की अद्भुत छटा है। वीर रस का ओजस्वी गुण तो इतना अद्वितीय रहा कि परवर्ती काल के कवियों में मात्र भूषण में जाकर दिखाई दिया है। विद्यापति की पदावली भक्ति काव्य है या शृंगारिक इसका निर्णय तो अभी तक अनिर्णीत है। खुसरो की पहेलियाँ इसके बाद के साहित्य में दिखाई नहीं देती। ढोला-मारू का प्रेमाख्यान सूफी कवियों में परिलक्षित होता है। सिद्धाचार्यों व नाथ सम्प्रदाय की योग साधना कबीर में तथा अद्वैतवाद, विशिष्टाद्वैत के मर्म को सूर-तुलसी ने आत्मसात किया तो मीरा ने माधुर्यभाव की भक्ति को अपनाया। आदिकाल के राष्ट्रप्रेम को भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, जयशंकर प्रसाद एवं निराला ने अपने काव्य में स्थान दिया। तो अपभ्रंश कालीन बौद्धमत से प्रभावित महादेवी वर्मा के काव्य में करुणा की धारा प्रवाहित हुई। अतः आदिकाल अनेक गुणों से युक्त था। उसकी प्रवृत्तियाँ अन्य कालों में विकसित रूप से परिलक्षित होती हैं।

अभ्यास प्रश्न

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. संस्कृत भाषा से सबसे पहले किस भाषा की उत्पत्ति हुई ?
(क) अपभ्रंश (ख) प्राकृत (ग) पाली (घ) हिन्दी
2. अपभ्रंश किस भाषा से निकली हुई भाषा है।
(क) संस्कृत (ख) पाली (ग) प्राकृत (घ) अवहट्ट
3. पाली भाषा किस समय थी ?
(क) ईसा पूर्व 1500 से 500 तक (ख) ईसा पूर्व 500 से पहली शताब्दी तक
(ग) ईसा बाद 500 से 1000 तक (घ) ईसा बाद 1000 से 500 तक
4. वेदांग कितने हैं ?
(क). पांच (ख) चार (ग) तीन (घ) छह
5. न्याय दर्शन के रचयिता कौन हैं ?
(क) महर्षि गौतम (ख) महर्षि पंतजलि (ग) महर्षि कणाद (घ) शंकराचार्य
6. राहुल सांकृत्यायन ने हिन्दी का पहला कवि किसे माना है ?
(क) पुष्यदन्त (ख) सरहपाद (ग) शालिभद्रसूरि (घ) हेमचन्द्र

अति लघूत्तरात्मक प्रश्न —

1. मिश्र बन्धुओं ने हिन्दी साहित्य को कितने भागों में विभाजित किया है ?
2. 'कीर्तिपताका' किस भाषा की कृति है ?

3. चंदबरदाई की रचना का नाम लिखिए।
4. परमाल रासो के रचयिता का नाम बताइए।
5. गार्सा-द-तासी के हिंदी इतिहास का नाम लिखिए।
6. शिवसिंह सरोज के रचयिता का नाम लिखिए।

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. राहुल सांकृत्यायन ने हिन्दी का पहला कवि किसे माना और क्यों ?
2. शुक्ल जी द्वारा काल विभाजन का समय एवं काल का नाम बताइए।
3. डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी ने वीर गाथा काल को आदिकाल क्यों कहा ?
4. किन्हीं दो जैनाचार्यों के नाम एवं उनकी रचनाएँ लिखिए।
5. नाथ सम्प्रदाय की दो विशेषताएँ बताइए।
6. रासो को वीररस की कृति क्यों माना जाता है ?

निबन्धात्मक प्रश्न –

1. शौरसेनी अपभ्रंश से निकलने वाली बोलियों एवं उपभाषाओं का परिचय दीजिए।
2. आदिकाल की विशेषताएँ बताइए।
3. प्रमुख सिद्धाचार्यों की रचनाओं की विशेषताएँ बताइए।
4. आदिकाल की राजनीतिक परिस्थितियों पर लेख लिखिए।
5. शुक्ल जी ने प्रथमकाल को वीरगाथा किन रचनाओं के आधार पर कहा और क्यों ?

...

2. भक्तिकाल

(सन् 1318 से 1643 ई० तक)

पूर्वपीठिका

भारतीय धर्म-साधना के इतिहास में भक्ति मार्ग का विशिष्ट स्थान है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने धर्म की भावात्मक अनुभूति को भक्ति कहा है। उनके अनुसार भक्ति का सूत्रपात महाभारत काल में और प्रवर्तन पुराण काल में हुआ। यद्यपि भक्ति के बीज वेदों में ढूँढे जा सकते हैं। वेदकाल के देवी-देवता प्रकृति की विभिन्न शक्तियों के प्रतीक हैं। वेदों का मानव इन्द्र, वरुण, सूर्य, अग्नि आदि देवी-देवताओं का आह्वान करता हुआ दिखाई देता है। उपनिषद् युग में मानव का ध्यान प्रकृति शक्ति की अपेक्षा परमशक्ति ब्रह्म की ओर अधिक गया। विभिन्न प्रकृति देवताओं के स्थान पर त्रिदेव-ब्रह्मा, विष्णु और महेश की उपासना का अधिक प्रचार हुआ। वेदोत्तर काल में व्यक्तिगत देवताओं की उपासना शुरू होने पर भक्ति की संकल्पना भी पैदा हुई। महाभारत में ज्ञान और कर्म के साथ-साथ भक्ति को भी मोक्ष का एक मार्ग माना गया है।

इस तरह भारत में प्राचीन काल से ही धर्म और मोक्ष की साधना के लिए तीन मुख्य मार्ग प्रचलित रहे हैं—कर्म, ज्ञान तथा भक्ति। इनमें से कभी कर्म की प्रधानता रही, कभी ज्ञान की और कभी भक्ति मार्ग की। उपनिषद् काल में ज्ञान की प्रधानता थी जबकि ब्राह्मण काल में कर्म की। ब्राह्मण काल में कर्म पर इतना अधिक बल दिया गया कि कर्मकांड के विस्तार और उनकी विकृतियों के विरुद्ध फिर से ज्ञान और निवृत्ति मार्ग को लेकर बौद्ध धर्म का प्रसार हुआ। ब्राह्मण काल में आकर यज्ञ में हिंसा और पाखंड की प्रबलता हो गई। इसलिए बौद्ध एवं जैन धर्म वैदिक संस्कृति के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में आया। कालान्तर में बौद्ध धर्म एवं जैन धर्म ज्यो-ज्यों प्राचीन होता गया त्यों-त्यों उसमें भी वैदिक कर्मकांड का प्रवेश होता गया तथा रूढ़िवादिता बढ़ती गई। वे निरर्थक अनुष्ठानवाद में लिप्त हो गए थे तथा लोगों की भावनात्मक आवश्यकताओं की पूर्ति कर पाने में समर्थ नहीं रह गए थे।

वैदिक भक्ति परंपरा के सामानांतर दक्षिण भारत में द्रविड़-संस्कृतगर्भित पृथक भक्ति परंपरा का सूत्रपात हो चुका था। यह परंपरा ईसा-पूर्व कई शताब्दियों से चली आ रही थी। छठी सदी के उत्तरार्द्ध से लेकर दसवीं सदी तक दक्षिण भारत में अनेक संतो ने भक्ति-आंदोलन का विस्तार किया। इन संतों की भक्ति विशुद्ध प्रेम पर आधारित थी। ये संत नयनार (जो शिव के भक्त थे) और आलवार (जो विष्णु के भक्त थे) के नाम से प्रसिद्ध हुए। नयनार एवं आलवार संतो ने जैनियों और बौद्धों के अपरिग्रह को अस्वीकार कर ईश्वर के प्रति व्यक्तिगत भक्ति को मुक्ति का मार्ग बतलाया। इन संतों में ब्राह्मण के साथ-साथ अन्य जातियों के भी कई संत थे। इन संतों का प्रेम-पूर्ण भक्ति का संदेश किसी एक वर्ग के लिए नहीं था। सभी लोग इस भक्ति को ग्रहण कर सकते थे भले ही उनकी जाति, परिवार अथवा लिंग जो भी हो। इस आंदोलन को कई स्थानीय शासकों का भी समर्थन प्राप्त हुआ। लोगों के विश्वास और स्थानीय शासकों के समर्थन से यह आंदोलन पूरे दक्षिण भारत में फैल गया। आगे चलकर रामानुजाचार्य ने अपने विशिष्टाद्वैतवादी

दर्शन के माध्यम से आलवारों की भक्ति को दार्शनिक आधार प्रदान किया जिससे वह नए युग की चुनौतियों का मुकाबला करने में सक्षम हुई। रामानुज, मध्वाचार्य, निम्बार्क, विष्णुस्वामी आदि वैष्णवाचार्यों ने शंकराचार्य की अद्वैत वेदांती व्यवस्था से असहमति व्यक्त करते हुए भक्ति का प्रपत्ति-मार्गी दर्शन निर्मित किया। जिसमें शरणागति एवं समर्पण भाव की प्रधानता है। 11वीं से 13वीं शताब्दी के मध्य इन वैष्णवाचार्यों ने अपनी लंबी यात्राओं से दक्षिण-उत्तर को सांस्कृतिक स्तर पर जोड़ने का प्रयत्न भी किया एवं भक्ति की विस्तृत भावभूमि तैयार की।

रामानुज की ही परंपरा में रामानंद (1300ई.के आसपास) हुए जिनके बारे में कहा जाता है कि वे भक्ति को दक्षिण से उत्तर लाए। भक्ति एक प्रवृत्ति के रूप में रामानुजाचार्य से पहले भी थी, किन्तु वह साधना पद्धति मात्र थी, आंदोलन नहीं। ऐतिहासिक स्थितियों की अनुकूलता में वह प्रवृत्ति व्यापक एवं तीव्र होकर धार्मिक आंदोलन बन गई। रामानुजाचार्य ने इस आंदोलन को वैचारिक आधार प्रदान किया, इसके बिना भक्ति आंदोलन नहीं बन सकती थी। इस धार्मिक और साहित्यिक आंदोलन ने हिन्दी साहित्य को कबीर, सूर, तुलसी और मीरा जैसे कवि दिए। इनकी कविताएँ इतनी लोकप्रिय एवं उत्कृष्ट हैं कि भक्तिकाल को हिन्दी साहित्य का स्वर्ण युग कहा जाता है।

भक्तिकालीन कवियों की कविता का स्वर मानवतावादी है। अपने इसी दृष्टिकोण के कारण ही भक्त कवियों ने संकीर्ण मनोवृत्ति से उपर उठकर मानव जीवन को बेहतर बनाने के लिए जनता को प्रेरित किया। विभिन्न वर्ग एवं वर्णों के वितण्डावादी स्वरूप, वर्ग-संघर्ष, धार्मिक भेदभाव, विधि निषेधों से जर्जरित भारतीय जीवन में भक्ति आंदोलन मनुष्य सत्य के स्वप्न को संजोता है। यह आंदोलन रुढ़िग्रस्त समाज और उसकी अमानवीय व्यवस्था के विरुद्ध आक्रोश तथा जिजीविषा की तीव्रतम अभिव्यक्ति थी। इस प्रकार मध्यकालीन भक्ति काव्य मूलतः सामाजिक सांस्कृतिक आंदोलन के रूप में सामने आता है जिसमें भक्ति साधना का नहीं बल्कि भावना का विषय बन गई थी।

भक्तिकालीन परिवेश

इतिहास के क्रम में प्रत्येक कालखण्ड अपने पूर्व-परंपरा के व्यापक योगदान तथा अतीत की विभिन्न घटनाओं और उसके प्रभावों को आत्मसात करने के बाद भी मानवीय जीवन के संघर्षों, सुख-दुःखों, आशा-आकांक्षाओं और बेहतर भविष्य की कामना से बुने गए स्वप्नों के संदर्भ में अपने युगीन परिवेश से गहराई से जुड़ा रहता है। भक्तिकाल भी इसका अपवाद नहीं है अतः यहाँ भक्तिकाल की राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक आदि परिस्थितियों का संक्षिप्त परिचय प्राप्त करना उपयोगी होगा।

राजनीतिक परिस्थिति

राजनैतिक दृष्टि से भक्तिकाल का विस्तार मुख्य रूप से सल्तनत काल के तुगलक वंश से लेकर मुगल वंश के बादशाह शाहजहाँ के शासन काल तक है। दिल्ली सल्तनत का इतिहास तुर्क-आक्रमणकारी मुहम्मद गौरी के द्वारा भारत पर आक्रमण से शुरू होता है। राजपूत राजाओं की परस्पर फूट तथा शत्रुता के कारण पृथ्वीराज चौहान मुहम्मद गौरी के हाथों तथा जयचंद्र कुतुबुद्दीन ऐबक के द्वारा मारा गया। इसके पश्चात् ही दिल्ली सल्तनत की स्थापना हुई। तेहरवीं सदी के अंत तक दिल्ली सल्तनत का विस्तार न सिर्फ मालवा और गुजरात तक, बल्कि दक्कन

और दक्षिण भारत तक हो गया। साम्राज्य के विस्तार एवं केन्द्रीकरण की नीति की शुरुआत अलाउद्दीन खिलजी (1296–1316 ई.) के द्वारा हुई एवं मुहम्मद बिन तुगलक (1324–1351ई.) के काल में यह नीति अपने चरम पर पहुँच गई थी। बाद में सैयद वंश के लोदी सुल्तान इब्राहिम लोदी को बाबर ने पानीपत की लड़ाई (1526 ई.) में हराकर मुगलवंश की स्थापना की। 1556 ई. में बाबर के पुत्र हुमायूँ की मृत्यु के बाद मुगल शासन की बागडोर अकबर (1556–1605) को मिली जिसने विशाल और स्थिर मुगल साम्राज्य की स्थापना की। अकबर के बाद 17 वीं सदी का पूर्वाद्ध कुल मिलाकर प्रगति और विकास का काल था। इस अवधि में मुगल साम्राज्य जहाँगीर (1605–1627 ई.) तथा शाहजहाँ (1628–1658ई.) इन दो शासकों के कुशल नेतृत्व में रहा। शाहजहाँ के अंत के साथ ही हिन्दी साहित्य में भक्तिकाल की भी समाप्ति हो गई। इसके बाद हिन्दी साहित्य के इतिहास में रीतिकाल का दौर शुरु हो गया।

आर्थिक एवं सामाजिक परिस्थिति

तुर्कों के द्वारा भारत में शासन कायम करने से लेकर शाहजहाँ तक के राजनीतिक इतिहास में सबसे महत्त्वपूर्ण तथ्य केंद्रीकृत शासन व्यवस्था है। इन शासकों ने शासन व्यवस्था को सुचारु रूप से चलाने के लिए केंद्रीय प्रशासन और स्थानीय प्रशासन की व्यवस्था की। साम्राज्य को विभिन्न सूबों में फिर सूबों को शिक में विभाजित किया गया। शिक के नीचे परगने होते थे। गाँव में खुत, मुकद्दम पटवारी के माध्यम से भू-राजस्व की वसूली की जाती थी। इस तरह केन्द्र से लेकर गाँव तक एक सूचारु व्यवस्था कायम हुई। आर्थिक स्थिति की बेहतरी एवं व्यापार को बढ़ावा देने के लिए इसी दौर में दिल्ली, आगरा, बनारस, इलाहबाद, पटना आदि शहरों का विकास हुआ। ये शहर आगे चलकर व्यापार के प्रमुख केंद्र बने। इसके साथ ही बड़े पैमाने पर सड़क निर्माण, यात्रियों के ठहरने के लिए सराय की व्यवस्था, अनेक किलों एवं भवनों का निर्माण आदि का कार्य दिखाई देते हैं, जिसके परिणामस्वरूप राजमिस्त्री एवं पत्थर तराशियों की माँग बढ़ जाती है। कुल मिलाकर देखें तो इस काल में नए शिल्पी वर्ग का उदय होता है जिनमें ज्यादातर अवर्ण काम करते थे। आर्थिक स्थिति बेहतर होने पर उनमें सामाजिक मर्यादा की स्वीकृति की भावना पैदा हुई। निर्गुण पंथ के उदय और उसमें अवर्ण संतों के इतनी अधिक संख्या में आने का कारण यही है।

भक्ति काल आने तक वर्ण व्यवस्था यद्यपि चरमराने लगी थी फिर भी उसका प्रभाव काफी था। वर्ण-व्यवस्था और जातिगत ऊँच-नीच की भावना ने पूरे समाज को बाँट रखा था। आचार-विचार की पवित्रता का स्थान स्वार्थ और पाखंड ने ले लिया था। शूद्रों के साथ अछूत का व्यवहार जारी रहा। स्वयं मुस्लिम समाज भी नस्ल और जातिगत वर्गों में विभाजित रहा। मुसलमानों में श्रेष्ठता की भावना, पारस्परिक विवाहों का धार्मिक निषेध और एक साथ बैठकर भोजन न करने के कारण हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच सामाजिक मेल मिलाप अधिक नहीं था। मुगलवंश की स्थापना के बाद और विशेषकर अकबर के समय में इस स्थिति में काफी सुधार आया। दूसरी ओर ग्रामीण समाज एवं किसानों की स्थिति काफी दयनीय थी। बार-बार उन्हें अकाल का सामना करना पड़ता था। जमींदार एवं व्यापारी वर्ग की तुलना में उनकी स्थिति बहुत खराब थी। जमींदारों

के द्वारा किसानों का शोषण होता था। अकाल और भूख की पीड़ा का मार्मिक चित्रण तुलसीदास ने किया है—'कलि बारहिं बार दुकाल परै। बिनु अन्न दुखी सब लोग मरै' या 'नहीं दरिद्र सम दुख जग माही।' तुलसी ग्रामीण चेतना के कवि हैं। उनका साहित्य तात्कालीन ग्रामीण समाज की दशा का दस्तावेज है— 'खेती न किसान को, भिखारी को न भीख, बलि। बनिक को बनिक, न चाकर को चाकरी।'

धार्मिक परिस्थिति

उत्तर भारत में तुर्कों का आगमन तथा दिल्ली सल्तनत की स्थापना, विकास और खलबली दोनों साथ लेकर आया। विजय के आरंभिक चरण में अनेक शहरों को लूटा गया और मंदिरों को तोड़ा गया। कई मंदिरों को तोड़कर मस्जिद में परिवर्तित कर दिया गया। हिन्दुओं और जैनियों आदि के पूजास्थल के प्रति उनकी नीति मुस्लिम कानून (शरीयत) पर आधारित थी। जो अन्य धर्मों के नए पूजा स्थलों के निर्माण की इजाजत नहीं देता फिर भी गाँव में जहाँ इस्लाम का प्रचार नहीं था, मंदिर के निर्माण पर कोई प्रतिबंध नहीं था। धर्म परिवर्तन कर इस्लाम स्वीकार करने का कारण राजनीति और धार्मिक लाभ की आशा अथवा सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त करने की ललक थी। कभी-कभी कोई प्रसिद्ध शासक या जनजाति का प्रधान धर्म परिवर्तन करता था तो उसकी प्रजा उसका अनुकरण करती थी। इसी दौर में हिन्दु और मुसलमान दोनों में कुछ कट्टर लोग धर्मांधता फैला रहे थे। इस सबके बावजूद पारस्परिक सामंजस्य और मेल मिलाप की धीमी प्रक्रिया भी आरंभ हुई। यह प्रक्रिया वास्तुकला, साहित्य, संगीत आदि क्षेत्रों में अधिक स्पष्ट रूप में दिखाई देने लगी। आगे-चलकर यह प्रक्रिया धर्म के क्षेत्र में भक्ति आंदोलन और सूफीवाद के रूप में दिखाई देने लगी एवं मुगल काल (16-17 वी सदी) में काफी प्रबल हो गई। भक्ति आंदोलन के कवियों की मानवतावादी दृष्टि ने इस भेदभाव को कम करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

सांस्कृतिक परिस्थिति

सांस्कृतिक चेतना की सर्वश्रेष्ठ अभिव्यक्ति सार्वभौम सत्य के आधार पर प्रतिष्ठित धार्मिक भावना और दार्शनिक चिन्ताधारा के माध्यम से हुई है। कला, शिल्प, साहित्य और संगीत इन्हीं की आनुषंगिक उपलब्धियाँ हैं। इन सबका क्षेत्र विशाल मानव समाज है जिसकी प्रेरणा और प्रसाद से मनुष्य जीवन-यापन करता है। भारतीय जीवन में समय-समय पर विदेशी और विजातीय तत्त्वों के आते रहने के कारण परस्पर संघात होते रहे हैं। परंतु इन्हीं से होकर ऐसी जीवनी-शक्ति का संचार भी होता रहा कि हम डूबते-डूबते भी उबरते चले आए हैं, निष्प्रभ या निस्तेज न होकर नवजीवन की अरुणिमा से महिमा मंडित होते रहे हैं। उन सबके मूल में हमारी समन्वय साधना की प्रवृत्ति प्रधान रही है। इसे हम मध्यकालीन भक्ति आंदोलन के सन्दर्भ में समझ सकते हैं। इस दौर में हिन्दू समाज शास्त्रीय विधान और पौराणिक विश्वासों को साथ लेकर जी रहा था। शंकर के मायावाद के विरुद्ध वैष्णवाचार्यों ने जिस भक्ति दर्शन के रूप में लीलावाद एवं अवतारवाद को स्वीकार किया, वह जगत को मिथ्या न मानकर परमसत्ता की सगुण-साकार अभिव्यक्ति रूप में है।

यहाँ परमसत्ता के साथ मनुष्य के संबंध का माध्यम भक्ति बनी। इसी से प्रेरणा ग्रहण कर भक्त कवियों ने अपने काव्य के माध्यम से जाति एवं संप्रदाय के भेदभाव को अस्वीकार कर प्रेम के धरातल पर मनुष्य मात्र की समानता एवं एकता को स्थापित किया। इस प्रकार हिन्दू और मुसलमान इस सांस्कृतिक वातावरण में एक दूसरे के काफी निकट आए।

भक्ति का प्रभाव मध्यकाल की सभी सांस्कृतिक गतिविधियों में देखा जा सकता है। इस काल के संगीतकार प्रायः भक्त भी हैं, जैसे स्वामी हरिदास। मूर्ति, चित्र, नृत्य सभी का विषय प्रधानतः भक्ति या भक्त है। विभिन्न कलाओं में राधाकृष्ण की लीलाएँ अधिक लोकप्रिय हैं। रामलीला भी अत्यंत लोकप्रिय हैं। कह सकते हैं कि जिस प्रकार का हिन्दी साहित्य का भक्तिकाव्य है, वैसे ही अन्य कलाओं के इतिहास का भी भक्तिकाल होगा।

भक्ति आंदोलन का आधार और उदय

आचार्य रामचंद्र शुक्ल उत्तर भारत के भक्ति आंदोलन के आधार का संकेत करते हुए इसे इस्लामी आक्रमण से पराजित हिन्दू जनता की असहाय एवं निराश मनःस्थिति से जोड़ा था। वे एक ओर इसे दक्षिण भारत से आया हुआ मानते थे तो दूसरी ओर यह भी मानते थे कि अपने पौरुष से हताश जाति के लिए भगवान की शक्ति और करुणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था ? आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का मत शुक्ल जी से भिन्न है। उनका मानना है कि भक्ति आंदोलन भारतीय चिन्तनधारा का स्वाभाविक विकास है। नाथ-सिद्धों की साधना, अवतारवाद, लीलावाद और जातिगत कठोरता दक्षिण भारत से आई हुई धारा में घुल मिल गई। यह आंदोलन और साहित्य लोकोन्मुखता एवं मानवीय करुणा के महान आदर्श से युक्त है। इस प्रकार शुक्ल जी का बल तात्कालीन परिस्थिति पर अधिक है तो द्विवेदी जी का बल परंपरा पर अधिक है। मूलतः यह अन्तर इतिहास परक दृष्टि के कारण है। शुक्ल जी के लिए समाज अपने सभी वर्गों के साथ, जिसे वे समष्टि रूप में —‘जनता’ कहते हैं, साहित्यिक परिवर्तन और विकास के लिए जिम्मेदार है। दूसरी ओर द्विवेदी इसके लिए प्रमुख कारक लोक को मानते हैं, जो समाज की अपेक्षया पिछड़ा वर्ग है। भक्ति साहित्य के सभी विद्वानों ने इस भक्ति आंदोलन का प्रारंभ दक्षिण भारत से माना है। भक्ति के आधार ग्रंथों में से एक श्रीमद्भागवत पुराण में भक्ति स्वयं अपना परिचय — ‘उत्पन्ना द्रविड़ साहं’ कहकर कराती है। कबीर ने भी ‘भक्ति द्राविड़ रूपजी लायो रामानंद’ कहकर इसकी पुष्टि की है।

निर्गुण —सगुण

भक्ति साहित्य की दो धाराओं— निर्गुण काव्य और सगुण काव्य के रूप में दिखाई देती है। इन दोनों धाराओं की दो-दो उपधाराएँ हैं। निर्गुण काव्य की इन उपधाराओं को ज्ञानाश्रयी शाखा और प्रेमाश्रयी शाखा कहा जाता है। प्रेमाश्रयी काव्य ही हिन्दी का सूफी काव्य है तो ज्ञानाश्रयी काव्य को संतकाव्य के रूप में जानते हैं। कबीर आदि निर्गुण संतों के साहित्य को ज्ञानाश्रयी कहने का कारण यह प्रतीत होता है कि इन संतों ने ज्ञान पर सूफियों की अपेक्षा अधिक बल दिया है। कबीर आदि के यहाँ भगवत्प्रेम पर कम बल नहीं है, किन्तु सूफी कवि प्रेम का जितना विषद चित्रण करते हैं, कबीर आदि नहीं करते। इसी तरह सगुण धारा की दो उपधाराएँ हैं—रामभक्ति शाखा एवं

कृष्ण भक्ति शाखा। सगुण भक्ति के अन्तर्गत राम भक्ति काव्य सामाजिक मर्यादा एवं लोकमंगल का काव्य है तो वहीं कृष्ण भक्ति काव्य प्रधानतः लोकरंजन के पक्ष को अपनी कविता का विषय बनाता है। यथार्थ रूप में भक्ति आंदोलन एक जन आंदोलन था।

भक्ति की दोनों धाराएँ निर्गुण धारा एवं सगुण धारा में अंतर इस बात का नहीं है कि निर्गुणियों के राम गुणहीन है और सगुण मतवादियों के राम या कृष्ण गुणसहित। वस्तुतः निर्गुण का अर्थ संतों के यहाँ गुणरहित नहीं, गुणातीत है। यह किसी निषेधात्मक सत्ता का वाचक न होकर उस परमब्रह्म के लिए प्रयुक्त हुआ है जो सत्य, रजस और तमस तीनों गुणों से अतीत है, वाणी जिनके स्वरूप का वर्णन करने में असमर्थ है। जो केवल अनुभूति का विषय है एवं रूप, रंग, रेखा से परे है। निर्गुण एवं सगुण मतवाद का अंतर अवतार एवं लीला की दो अवधारणाओं को लेकर है। निर्गुण मत के इष्ट भी कृपालु, सहृदय, दयावान एवं करुणाकर है, वे भी मानवीय भावनाओं से युक्त हैं, किन्तु वे न अवतार ग्रहण करते हैं, न लीला। वे निराकार हैं। सगुण मत के इष्ट अवतार लेते हैं, दुष्टों का दमन करते हैं, साधुओं की रक्षा करते हैं और अपनी लीला से भक्तों के चित्त का रंजन करते हैं। अतः सगुण मतवाद में विष्णु के 24 अवतारों में से अनेक की उपासना होती है, यद्यपि सर्वाधिक लोकप्रिय और लोकपूजित अवतार राम एवं कृष्ण ही हैं। तुलसी ने 'अगुनहिं सगुनहिं नहिं कछु भेदा' कहकर इसी अभेद को पुष्ट किया है।

निर्गुण तथा सगुण दोनों प्रकार की भक्ति का मुख्य लक्षण है— भगवद् विषयक रति एवं अनन्यता। नाथ—सिद्धों के आसन प्राणायाम, सहज समाधि शरीर, प्राण, मन वाणी की अचंचलता का योग— सब इसी महाराग में विलीन हो गए हैं।

भक्ति के संप्रदाय

भक्ति के अनेक संप्रदाय हैं, उनमें से चार वैष्णव संप्रदायों और आचार्यों का परिचय संक्षेप में दिया जा रहा है। ये हैं—श्री, ब्रह्म, रुद्र, सनकादि या निम्बार्क।

श्री संप्रदाय

श्री संप्रदाय के आचार्य रामानुजाचार्य हैं। कहा जाता है कि लक्ष्मी ने इन्हें जिस मत का उपदेश दिया उसी के आधार पर इन्होंने अपने मत का प्रवर्तन किया। इसीलिए इनके संप्रदाय को श्री संप्रदाय कहते हैं। इन्होंने आलवारों की भक्ति को दार्शनिक आधार प्रदान किया एवं शंकराचार्य के अद्वैतवाद का खंडन करते हुए जिस मत की स्थापना की उसे विशिष्टाद्वैतवाद के नाम से जाना जाता है। रामानुज का ब्रह्म विशेषण से युक्त विशिष्ट है। रामानुज के अनुसार जगत मिथ्या नहीं, वास्तविक है। जगत शरीर है, ब्रह्म शरीरी। ब्रह्म जीव और जगत को धारण करता हुआ उसका नियमन करता है जैसे शरीरी शरीर का। इस जगत को वास्तविक मानकर उसे महत्त्व देने में ही भक्ति की लोकोन्मुखता एवं करुणा है। जगत मिथ्या नहीं, वास्तविक है, यह लौकिकता की विश्वबोधात्मक या दार्शनिक स्वीकृति है।

रामानुज की ही परंपरा में रामानंद हुए। रामानंद प्रयाग में उत्पन्न हुए थे। इनके गुरु का नाम राधवानंद था। रामानंद संस्कृत के पंडित उच्च कुलोत्पन्न ब्राह्मण थे, किन्तु वे आकाशधर्मा गुरु

थे। उन्होंने अवर्ण-सवर्ण, स्त्री-पुरुष, राजा-रंक सभी को शिष्य बनाया। उनका विचार था कि ऋषियों के नाम पर गोत्र एवं परिवार बन सकते हैं तो ऋषियों के भी पूजित परमेश्वर के नाम पर सबका परिचय क्यों नहीं दिया जा सकता। इस प्रकार सभी भाई-भाई हैं, सभी एक जाति के हैं। श्रेष्ठता भक्ति से होती है, जाति से नहीं। इनके 12 शिष्य प्रसिद्ध हैं, उनकी सूची इस प्रकार है—
रैदास, कबीर, धन्ना, सेना, पीपा, भावानंद, सुखानंद, अनंतानंद, सुरसुरानंद, नरहरयानंद, पदमावती, सुरसरी। रामानंद के व्यक्तित्व का महत्त्वपूर्ण पक्ष यह है कि उन्होंने हिन्दी को अपने मत के प्रचार का माध्यम बनाया।

ब्राह्म संप्रदाय

ब्राह्म संप्रदाय के प्रवर्तक मध्वाचार्य थे। उनका जन्म गुजरात में हुआ था। चैतन्य महाप्रभु पहले इसी संप्रदाय में दीक्षित हुए थे। इस संप्रदाय का सीधा संबंध हिन्दी साहित्य से नहीं है।

रुद्र संप्रदाय

इसके प्रवर्तक विष्णु स्वामी थे। वस्तुतः यह महाप्रभु वल्लभाचार्य के पुष्टि संप्रदाय के रूप में ही हिन्दी में जीवित है। जिस प्रकार रामानंद ने 'राम' की उपासना पर बल दिया था, उसी प्रकार वल्लभाचार्य ने 'कृष्ण' की उपासना पर। उन्होंने प्रेमलक्षणा भक्ति ग्रहण की। भगवान के अनुग्रह के भरोसे नित्यलीला में प्रवेश करना जीव का लक्ष्य माना। सूरदास एवं अष्टछाप के कवियों पर इसी संप्रदाय का प्रभाव है।

सनकादि संप्रदाय

यह निम्बाकाचार्य द्वारा प्रवर्तित है। हिन्दी भक्ति साहित्य को प्रभावित करने वाले राधावल्लभी संप्रदाय का संबंध इसी से जोड़ा जाता है। राधावल्लभी संप्रदाय के प्रवर्तक हितहरिवंश का जन्म 1502 ई. में मथुरा के पास बांदगाँव में हुआ था। कहा जाता है कि हितहरिवंश पहले मध्वानुयायी थे। इसमें राधा की प्रधानता है।

भाषा काव्यरूप और छंद

भक्ति आंदोलन अखिल भारतीय था। इसका परिणाम यह हुआ कि लगभग पूरे देश में मध्यदेश की काव्य भाषा हिन्दी ब्रजभाषा का प्रचार-प्रसार हुआ। नामदेव यदि अपनी भाषा अर्थात् मराठी में और नानक देव पंजाबी में रचना करते थे तो ब्रजभाषा में भी। भक्तिकालीन हिन्दी काव्य की प्रमुख भाषा ब्रजभाषा है। इसके अनेक कारण हैं। परंपरा से पछाँही बोली शौरसेनी मध्यदेश की काव्य भाषा रही है। ब्रजभाषा आधुनिक आर्यभाषा काल में उसी शौरसेनी का रूप थी। इसमें सूरदास जैसे महान लोकप्रिय कवि ने रचना की और वह कृष्ण भक्ति के केन्द्र ब्रज की बोली थी, जिससे यह कृष्ण भक्ति की भाषा बन गई। बंगाल-असम में ब्रजभाषा प्रभावित बंगला-असमिया को 'ब्रजबुलि' कहा गया। चैतन्य महाप्रभु ने कृष्णगान के लिए इसी भाषा का प्रयोग किया है।

भक्तिकाल की दूसरी भाषा अवधी है, यद्यपि यह ब्रजभाषा जितनी व्यापक नहीं। अवधी में काव्य रचना प्रधानतः रामपरक और अवध क्षेत्र के ही कवियों द्वारा हुई है। हिन्दी के सूफ़ी कवि अवध क्षेत्र के ही थे। फिर भी यदि उन्होंने अवधी में प्रबंधकाव्य लिखे तो उसकी कोई परंपरा

अवश्य रही होगी। प्राकृत-पैंगलम के अनेक छंदों की भाषा में अवधी कहीं-कहीं व्यवस्थित रूप में दिखलाई पड़ती है। राहुल जी ने पउम-चरिउ की भाषा में कुंजी के शब्दों को अवधी कहा है। संभवतः अवध क्षेत्र व्यापारिक या सैनिक दृष्टि से 14 वीं और 15 वीं शताब्दी में महत्त्वपूर्ण रहा हो। धार्मिक दृष्टि से राम की काव्य-भूमि अयोध्या के कारण तो वह महत्त्वपूर्ण था ही। भक्ति काल में किसी महान कवि ने शुद्ध खड़ी बोली में कोई रचना नहीं की। उसका मिश्रित रूप सधुक्कड़ी अवश्य मिलता है जो वस्तुतः पंजाबी, राजस्थानी, खड़ी बोली, ब्रज और कहीं-कहीं अवधी का भी पंचमेल है।

भक्ति साहित्य अनेक विधाओं और छन्दों में लिखा गया है, किन्तु गेयपद और दोहा-चौपाई में निबद्ध कड़वक वद्धता उसके प्रधान रचना-रूप हैं। गेयपदों की परंपरा हिंदी में सिद्धों से प्रारम्भ होती है। नानक, नामदेव, कबीर, सूर, तुलसी, मीराबाई आदि ने गेयपदों में रचना की है। गेयपदों में काव्य और संगीत एक दूसरे से घुलमिल से गए हैं। संभवतः ये कवि राग-रागिनियों को ध्यान में रखकर इन गेयपदों की रचना करते थे। गेयपदों की प्रारंभिक पंक्ति आवर्ती या टेक होती है अर्थात् वह केंद्रीय कथ्य होती है। बीच की पंक्तियों में उस कथ्य की व्याख्या होती है और अंतिम पंक्ति में रचनाकार अपना नाम डालकर गेयपद समाप्त करता है। यह अपने अनुभव से गेयपद के कथ्य को सत्यापित करता है।

दोहा-चौपाइयों की परंपरा भी सरहपा से मिलने लगती है, किन्तु सरहपा ने कोई प्रबंध काव्य नहीं लिखा। लगता है, दोहा-चौपाई में प्रबंध काव्य लिखने के लिए अवधी की प्रकृति अधिक अनुकूल है। जायसी पूर्व अवधी कवियों के भी अनेक काव्य चौपाई-दोहे में कड़वक बद्ध मिले हैं- जैसे भीम कवि का दंगवै पुराण, सूरजदास की एकादसी कथा, पुरुषोत्तम दास का जैमिनि पुराण, ईश्वर दास की सत्यवती कथा, किन्तु यह रचना रूप सूफी कवियों, विशेषतः जायसी के हाथों अत्यंत परिष्कृत हुआ। तुलसीदास ने इसे चरमोत्कर्ष पर पहुँचा दिया।

दोहे की परंपरा अपभ्रंश में मिलने लगती है। सरहपाद का दोहा-कोष प्रसिद्ध है। दोहा नाम से आदिकाल में 'ढोला मारू रा दूहा' जैसा प्रबंध काव्य भी मिलता है। भक्ति काल में कबीर के दोहे 'साखी' के नाम से जाने जाते हैं। तुलसी ने रामकथा 'दोहावली' में रची। दोहे का ही एक रूप सोरठा है।

छप्पय, सवैया, कवित्त, भुजंग प्रयात, बरवै, हरिगीतिका आदि भक्तिकाव्य के बहुप्रचलित छंद हैं। सवैया, कवित्त, हिन्दी के अपने छंद हैं जो भक्तिकाव्य में दिखलाई पड़ते हैं। इनकी स्पष्ट परंपरा पहले नहीं मिलती। तुलसीदास ऐसे भक्त कवि हैं, जिनके यहाँ मध्यकाल में प्रचलित प्रायः सभी काव्यरूप मिल जाते हैं। तुलसी ने मंगलकाव्य, नहछू, कलेऊ, सोहर जैसे काव्य रूपों का भी उपयोग किया है। नहछू, कलेऊ विवाह के समय गाए जाने वाले और सोहर पुत्र जन्म के समय गाया जाने वाला गीत है।

आदिकाल में विविध छंदों में प्रबंधकाव्य रचने की प्रवृत्ति थी। उदाहरण के लिए पृथ्वीराज रासों में छंद बहुत जल्दी-जल्दी बदलते हैं। सूरदास और तुलसीदास भी छंद परिवर्तन करते हैं किन्तु जल्दी-जल्दी नहीं। केशव की रामचंद्रिका में बहुत जल्दी-जल्दी छंद परिवर्तित हुए हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भक्ति आंदोलन के विकास में अनेक स्थितियों का योगदान है। भक्ति मूलतः एक धार्मिक साधना-पद्धति, ज्ञान योग, कर्म योग, के समान एक योग है, किन्तु ऐतिहासिक विकास के एक विशिष्ट दौर में वह एक लोकोन्मुख अखिल भारतीय आंदोलन बन गई। धर्म उसका रूप है और मानवीय करुणा उसकी अंतर्वस्तु। हिन्दी साहित्य के इतिहास का भक्ति आंदोलन इसी धार्मिक आंदोलन पर आधारित है।

निर्गुण ज्ञानाश्रयी शाखा

हिन्दी साहित्य के संत कवियों की ज्ञानाधारित निष्पक्षता, न्यायप्रियता, भक्तिभावना और काव्यधारा को दृष्टिगत कर इसे ज्ञानमार्गी काव्यधारा की संज्ञा दी जाती है। भक्तिकाल की विषम राजनीतिक एवं सामाजिक परिस्थितियों में आशा की ज्योति बिखरने का कार्य संत काव्यधारा के कवियों ने किया। उन्होंने तात्कालीन धार्मिक मान्यताओं को अपने जीवन के व्यापक अनुभव के आधार पर जनसामान्य के लिए बोधगम्य बनाया जिसमें युगीन परिवेश की सबल भूमिका रही है। सभी संत कवि वर्णवादी समाज को तोड़कर मानवतावादी समाज की स्थापना के लिए प्रयत्नशील थे। धार्मिक सहिष्णुता को संत कवियों ने सामाजिक विकास के लिए आवश्यक माना। निर्गुण काव्य में मानवीय अनुभव और विवेक को प्रमाणिक माना गया है इसलिए संत कवि पांडित्य परंपरा और पुस्तकीय ज्ञान के वाद-विवाद को व्यर्थ मानते हैं। उनके काव्य में अनुभूति की निश्छलता और शिल्प की अनगढ़ता मिलती है।

‘संत’ शब्द का प्रयोग प्रायः बुद्धिमान, पवित्रात्मा, परोपकारी व सज्जन व्यक्ति के लिए किया जाता है। संतकाव्य धारा में संत शब्द उस व्यक्ति की ओर संकेत करता है जिसने सत्य रूपी परमतत्त्व का अनुभव कर लिया हो। संत शब्द में व्यक्ति की ‘रहनी’ तथा ‘करनी’ का सुंदर सामंजस्य भी लक्षित होता है। हिन्दी में संत कवि से अभिप्राय—कबीर आदि निर्गुणोपासक ज्ञानमार्गी कवियों से लिया जाता है। कबीरदास ने अपनी एक साखी में कहा है—‘निरबैरी निहकामता, साँई सेंती नेह। विषया सून्दरा रहै, संतनि को अंग एह।।’ यहाँ भी संतो का लक्षण उनका निष्काम, प्रभु का प्रेमी और विषयों से विरक्त होना है।

संत मत पहले से निश्चित किसी सिद्धांत या मत का संग्रह नहीं है। इसका प्रसार भिन्न संतो द्वारा समय-समय पर दिए उपदेशों से भी नहीं हुआ है। यह परंपरा, अनुभव से ज्ञान का संधान कर प्रसार को पाती है। कबीरदास कहते हैं— ‘सतगुरु तत कह्यौ विचार, मूल गह्यौ अनभै विस्तार।’ इस प्रकार तत्त्व का ग्रहण कर, अनुभव तथा विवेक के समन्वय से ही यह मत अस्तित्व में आया। संत कवि ईश्वर से तादात्म्य करने के लिए नामोपासना की पद्धति को स्वीकार करते हैं। परमतत्त्व के विषय में किसी प्रकार की दार्शनिक विवेचन उन्होंने नहीं किया। इसे ये कवि राम, खुदा, रहीम, ब्रह्म आदि अनेक नामों से पुकारते हैं, किन्तु सबका लक्ष्य परमतत्त्व का साक्षात्कार करना ही है। संतों की यह साधना पद्धति ‘अजपाजप’ के नाम से प्रसिद्ध है।

निर्गुण संत परंपरा

कबीरदास जैसे संतो की परंपरा का सूत्रपात 15 वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध काल में हुआ था। स्वामी रामानंद कबीरदास के दीक्षा गुरु थे। संत रविदास, सेना, नाई, पीपा, धन्ना, आदि उनके

गुरु भाई थे। जनश्रुति है कि स्वामीजी के उपदेशों से प्रभावित होकर ही इन्होंने संत परंपरा का सूत्रपात किया। वस्तुतः संत परंपरा की विचारधारा के लिए अनुकूल भाव-भूमि बहुत पहले ही तैयार हो रही थी। पूर्व में बौद्ध धर्म, वज्रयान एवं सहजयान में परिणत हो गया था। वैष्णव संप्रदाय और उसमें कई बातों का आदान-प्रदान हुआ और इस तरह दोनों निकट आने लगे। इसी प्रकार का वैचारिक सामंजस्य नाथपंथ एवं स्थानीय वैष्णव संप्रदाय के मध्य महाराष्ट्र तथा राजस्थान में देखने में आया। इस प्रभाव के फलस्वरूप पूर्व की ओर से संत जयदेव, दक्षिण की ओर से संत ज्ञानदेव एवं नामदेव, पश्चिम की ओर से संत बेनी एवं सधना तथा कश्मीर की ओर से संत ललदेव का आविर्भाव स्वामी रामानंद से पहले ही हो चुका था। आगे चलकर कबीर आदि संतो की दीर्घ परंपरा हिंदी में चली। अनेक पंथों एवं गद्दियों की स्थापना हुई। इनमें नानक देव के पंथ के अतिरिक्त दादू दयाल के दादूपंथ, हरिदास के निरंजनी संप्रदाय, मलूकदास के मलूकपंथ तथा कबीरदास के नाम पर कबीरपंथ बनकर तैयार हो गए। इस परंपरा का प्रथम युग, संत जयदेव से आरंभ होता है और उसके पीछे दो सौ वर्षों तक संत अधिकतर पथ-प्रदर्शकों के रूप में आते हुए दीख पड़ते हैं। 15वीं शताब्दी में कबीरदास ने संतमत के निश्चित सिद्धांतों का प्रचार विस्तार के साथ किया। आचार्य शुक्ल ने इन्हें ही निर्गुण भक्ति का प्रवर्तक माना है।

ज्ञानाश्रयी काव्यधारा और उसके प्रमुख कवि

नामदेव (जन्म 1267 ई.) 13 वीं शताब्दी

इनका जन्म 1267 ई. को महाराष्ट्र के सतारा के नरसी वमनी (बहमनी) गाँव में हुआ था। अपने पैतृक व्यवसाय की ओर इनकी रुचि नहीं थी, अतः बचपन से ही साधुसेवा एवं सतसंग में अपना जीवन बिताते रहे। संत विसोवा खेचर इनके गुरु थे तथा प्रसिद्ध संत ज्ञानेश्वर के प्रति भी इनकी गहरी निष्ठा थी। ऐसा कहा जाता है कि नामदेव पहले सगुणोपासक भक्त थे लेकिन नामदेव के प्रभाव में आकर निर्गुण ब्रह्म की उपासना की ओर प्रवृत्त हुए। मराठी में रचित अभंगों के अतिरिक्त हिन्दी भाषा में भी इनकी रचनाएँ उपलब्ध हैं। सधुक्कड़ी भाषा में रचित इनकी रचनाओं में निर्गुणोपासना, कर्मकांड का खंडन तथा ब्रह्म का स्वरूप निरूपण किया गया है—

जल तरंग अरु फेन बुदबुदा, जलते भिन न होई।

इहु परपंचु पारबह्म की लीला, विचरत आन न होई।।

मिथिआ भरमु अरु सुपन मनोरथ, सति पदारथु जानिया।

सकित मनसा गुर उपदेसी, जागत ही मनु मानिया।।

कहत नामदेउ हरि की रचना, देषहु रिदै बीचारी।

घट-घट जंतरि सरब निरन्तरि, केवल एक मुरारी।।

संत नामदेव छीपा दर्जी थे। वे गज, कैंची और सुई धागे के माध्यम से ही भक्ति रहस्य उद्घाटित करते थे। सामान्य जन उनकी आजीविका के कार्य से परिचित थे अतः उनकी रूपक-योजना को सही ढंग से समझने में वे सक्षम थे।

कबीर (1397–1518 ई.)

कबीर के जन्म काल, जीवन मरण तथा जीवन की प्रसिद्ध घटनाओं के विषय में किंवदंतियाँ प्रसिद्ध हैं। जनश्रुति के अनुसार इनका जन्म 1397 ई. में काशी की एक विधवा ब्राह्मणी के घर में हुआ था। किन्तु लोकापवाद के भय से वह इन्हें लहरतारा ताल के निकट छोड़ आई। इनका पालन-पोषण नीरू-नीमा नामक जुलाहा दम्पति ने किया। इस प्रकार कबीर ब्राह्मणी के पेट से उत्पन्न हुए थे, लेकिन उनका पालन-पोषण जुलाहे के यहाँ हुआ। कबीर ने भी अपने को कविता में अनेक बार जुलाहा कहा है। बाद में वे जुलाहा ही प्रसिद्ध हुए। कबीर की मृत्यु के बारे में भी कहा जाता है कि हिन्दू उनके शव को जलाना चाहते थे और मुसलमान दफनाना। इस पर विवाद हुआ, किन्तु पाया गया कि कबीर का शव अंतर्धान हो गया है। वहाँ कुछ फूल हैं। उनमें से कुछ फूलों को हिन्दुओं ने जलाया और कुछ को मुसलमानों ने दफनाया। कबीर की पत्नी का नाम लोई था। उनकी संतान के रूप में पुत्र कमाल और पुत्री कमाली का उल्लेख मिलता है। कबीर के प्रधान शिष्यों में धर्मदास ने कबीर की वाणी का संग्रह किया। ऐसा माना जाता है कि कबीर की मृत्यु मगहर जिला बस्ती में सन् 1518 ई. में हुई।

कबीर का अपना पंथ या संप्रदाय क्या था, इसके बारे में कुछ भी निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। रामानंद इनके दीक्षा गुरु थे। उनके नाम का मंत्र लेने के लिए ये पंचगंगा घाट की उन सीढ़ियों पर जा पड़े, जहाँ से प्रातःकाल रामानंद स्नान करने जाते थे। अंधेरे में रामानंद के चरण कबीर साहब पर पड़ गए और रामानंद जी बोल उठे 'राम राम कह'। आगे चलकर यही मंत्र मानुष सत्य के महान लक्ष्य की प्राप्ति में तथा विषमता के दुराग्रहों को छोड़कर सामाजिक न्याय और समानता की स्थापना में सहायक हुआ। शेख तकी नाम के सूफी संत को भी कबीर का गुरु कहा जाता है, किन्तु इसकी पुष्टि नहीं होती। संभवतः कबीर ने इन सबसे सत्संग किया होगा और इन सबसे किसी न किसी रूप में प्रभावित भी हुए होंगे।

कबीर की जाति के विषय में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपनी पुस्तक कबीर में प्राचीन उल्लेखों, कबीर की रचनाओं, प्रथा, वयनजीवी (बुनकर) जातियों के रीति-रिवाज का विवेचन-विश्लेषण करके दिखाया है— "आज की वयनजीवी जातियों में से अधिकांश किसी समय ब्राह्मण श्रेष्ठता को स्वीकार नहीं करती थी। जोगी नामक आश्रम-भ्रष्ट घरबारियों की एक जाति सारे उत्तर और पूर्वी भारत में फैली थी। ये नाथपंथी थे, कपड़ा बुनकर और सूत कातकर या गोरखनाथ और भरथरी के नाम पर भीख माँगकर जीविका चलाया करते थे। इनमें निराकार भाव की उपासना प्रचलित थी। मुसलमानों के आने के बाद ये धीरे-धीरे मुसलमान होते रहे। पंजाब, उत्तर प्रदेश, बिहार और बंगाल में इनकी कई बस्तियों ने सामूहिक रूप से मुसलमानी धर्म ग्रहण किया। कबीरदास इन्हीं नवधर्मान्तरित लोगों में पालित हुए थे।"

कबीर के काव्यपर इन सबका प्रभाव देखा जा सकता है। उनमें वेदांत का अद्वैत, नाथ-पंथियों की अंतस्साधनात्मक-रहस्य भावना, हठयोग, कुंडलिनी योग, सहज साधना, इस्लाम का एकेश्वरवाद सब कुछ मिलता है।

कवि के रूप में कबीर जीवन की सहजता के अधिक निकट हैं। उनकी कविता में छंद, अलंकार, शब्द शक्ति आदि गौण है और लोकमंगल की चिंता प्रधान है। इनकी वाणी का संग्रह इनके अनुयायियों ने 'बीजक' के नाम से किया है। इसके तीन भाग हैं, 'रमैनी', 'सबद' और 'साखी'। रमैनी और सबद में गाने के पद हैं तथा साखी दोहा छंद में लिखी गई है। रमैनी और सबद ब्रजभाषा में है जो तत्कालीन मध्यदेश की काव्यभाषा थी। कबीर ने अपनी कविता में अंतस्साधनात्मक पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग भी खूब किया है। साथ ही अहिंसा की भावना और वैष्णव प्रपत्तिवाद भी।

कबीर की भाषा मूलतः तो पूरब की है, किन्तु उसमें अन्य बोलियों का मिश्रण होने के कारण उसे सधुक्कड़ी कहा जाता है। कबीर साहसपूर्वक जन-बोली के शब्दों का प्रयोग अपनी कविता में करते हैं। बोली के ठेठ शब्दों के प्रयोग के कारण ही कबीर को 'वाणी का डिक्टेटर' कहा जाता है। उनकी अनंत तेजस्विता उनकी भाषा-शैली में भी प्रकट है। काजी, पंडित, मुल्ला को संबोधित करते समय वे प्रायः तन जाते हैं—'पॉडे कौन कुमति तोंहि लागी, कसरे मुल्ला बाँग नेवाजा।' किन्तु सामान्य जन को या हरिजन को संबोधित करते समय वे 'भाई' या 'साधो' जैसे शब्द का प्रयोग करते हैं।

कबीर तथा अन्य निर्गुण संतो की उलटबासियाँ प्रसिद्ध हैं। उलटबासियों का पूर्व रूप हमें सिद्धों की 'संधा भाषा' में मिलता है। उलटबासियाँ अंतस्साधनात्मक अनुभूतियों को आसामान्य प्रतीकों में प्रकट करती हैं। वे वर्णाश्रम व्यवस्था को मानने वाले संस्कारों को धक्का देती हैं। इन प्रतीकों का अर्थ खुलने पर ही उलटबासियाँ समझ में आती हैं।

कबीर ने भक्ति पूर्व धार्मिक साधनाओं को आत्मसात अवश्य किया था। किन्तु वे इन साधनाओं को भक्ति की भूमिका या तैयारी मात्र मानते थे। जीवन की सार्थकता वे भक्ति या भगवद् विषयक रति में मानते थे। यद्यपि उनके राम निराकार हैं, किन्तु वे मानवीय भावनाओं के आलंबन हैं। इसलिए कबीर ने निराकार निर्गुण राम को भी अनेक प्रकार के मानवीय संबंधों में याद किया है। वे 'भरतार' हैं, कबीर 'बहुरिया' है। वे कबीर की माँ है—'हरिजननी मैं बालक तोरा'। वे पिता भी हैं जिनके साथ कबीर बाजार जाने की जिद करते हैं।

कबीर भक्ति के बिना सारी साधनाओं को व्यर्थ और अनर्थक मानते हैं। इसी प्रेम एवं भक्ति के बल पर वे अपने युग के सारे मिथ्याचार, कर्मकांड, अमानवीयता, हिंसा, पर-पीड़ा को चुनौती देते हैं। उनके काव्य, उनके व्यक्तित्व और उनकी साधना में जो अक्खड़पन, निर्भीकता और दोटूकपन है वह भी इसी भक्ति या महाराग के कारण। वे पूर्व साधनाओं की पारिभाषिक शब्दावली को अपनाकर भी उसमें जो नई अर्थवत्ता भरते हैं, वह भी वस्तुतः प्रेम भक्ति की ही अर्थवत्ता है।

कबीर अपने अनुभव, पर्यवेक्षण और बुद्धि को निर्णायक मानते हैं, शास्त्र को नहीं। इस दृष्टि से वे यथार्थ-बोध के रचनाकार हैं। उनके यहाँ जो व्यंग्य की तीव्रता और धार है वह भी कथनी-करनी के अंतर को देख पाने की क्षमता के कारण। अपने देखने या अनुभव को न झुठलाने के कारण ही वे परंपरा द्वारा दिए गए समाधान को अस्वीकार करके नए प्रश्न पूछते हैं—

‘चलन—चलन सब लोग कहत है, न जाने बैकुंठ कहाँ है’ ?

या ‘न जाने तेरा साहब कैसा है’?

कबीर बहुत गहरी मानवीयता और सहृदयता के कवि हैं। अक्खड़ता और निर्भयता उनके कवच हैं, उनके हृदय में मानवीय करुणा, निरीहता, जगत के सौन्दर्य से अभिभूत होने वाला हृदय विद्यमान है। कबीर की एक और विशेषता है— काल का तीव्र बोध। वे काल को सर्वग्रासी रूप में चित्रित करते हैं और भक्ति को उस काल से बचने का मार्ग बताते हैं।

परंपरा पर संदेह, यथार्थ—बोध, व्यंग्य, काल—बोध की तीव्रता ओर गहरी मानवीय करुणा के कारण कबीर आधुनिक भाव—बोध के बहुत निकट लगते हैं। किन्तु कबीर में अंतस्साधनात्मक रहस्य—भावना भी है और राम में अनन्य भक्ति तो उनकी मूल भाव—भूमि ही है।

नाद, बिन्दु, कुंडलिनी, षडचक्रभेदन आदि का बारंबार वर्णन कबीर काव्य का अंतस्साधनात्मक रहस्यवादी पक्ष है। कबीर में स्वाभाविक रहस्य भावना बड़े मार्मिक तौर पर व्यक्त की गई है। ऐसे अवसर पर वे प्रायः जिज्ञासा होते हैं—‘कहो भइया अंबर कासौ लागा’।

कबीर में जीवन के द्वंद्वात्मक पक्ष को समझ लेने की अद्भुत क्षमता थी। इस परस्पर विरोधिता को न समझने पर कबीर का मर्म नहीं खुलता। जिसे जीना कहा जाता है, वह वस्तुतः जीवित रहने और मृत्यु की ओर निरंतर बढ़ते रहने की प्रक्रिया है। फिर भी लोग कुशल पूछते हैं और कुशल बताते हैं। लोग जीने का एक पक्ष देखते हैं दूसरा नहीं। कबीर इस पर व्यंग्य करते हैं, हँसते हैं और करुणा करते हैं—

कुसल—कुसल ही पूछते कुसल रहा न कोय।

जरा मुई न भय मुआ कुसल कहां ते होय।।

कबीर विशाल गतिशील बिम्ब प्रस्तुत करते हुए आकाश और धरती को चक्की के दो पाट बताते हैं — ‘चलती चाकी देखकर, दिया कबीरा रोय/ दो पाटन के बीच में, साबित बचा ना कोय।’ इसी तरह वे समाधि, सत्संग, गुरु —उपदेश, हरिभजन आदि की सुखानुभूति का चित्रण उत्कृष्ट इंद्रिय बोधात्मक तीव्रता के साथ करते हैं—‘सतगुर हमसू रीझ कर, कहा एक परसंग। बादर बरसा प्रेम का, भीज गया सब अंग।’

कबीर सादृश्य विधान प्रायः अवर्ण जातियों का व्यवसाय के आधार पर खड़ा करते हैं। जुलाहा, माली, कुम्हार, लोहार, व्याध, कलवार आदि के व्यवसायों का उपयोग वे प्रायः अंलकार योजना में करते हैं। यह भाव प्रायः सभी निर्गुण कवियों में पाया जाता है।

इस प्रकार भाषा, संवेदना, विचार प्रणाली—सभी दृष्टियों से कबीर शास्त्रीयता के समक्ष खौंटी देसीपन को महत्त्व देते हैं। ‘संसकिरित के कूपजल’ को छोड़कर वे भाखा के बहते नीर तक स्वयं पहुँचते हैं और सबको पहुँचाते हैं। संस्कृत से मुक्त लोक—संस्कृति को बनाने में उनका योगदान अप्रतिम है। पंडित और मुल्ला यहाँ दोनों को वे एक साथ अप्रासंगिक करार देते हैं। मूलतः कवि होने के नाते शास्त्र की तुलना में वे अनुभव को प्रमाणिक मानते हैं। भाखापन को लेकर यह गहरा आत्मविश्वास—भाव उनके रचनाकार व्यक्तित्व की सबसे बड़ी विशेषता कही जा सकती है।

रैदास (15वीं शताब्दी)

मध्ययुगीन शाधकों में संत रैदास अथवा रविदास के जीवनकाल की तिथि के विषय में कुछ निश्चित रूप से ज्ञात नहीं होता। रैदास रामानन्द के बारह शिष्यों में से एक थे। इनके समकालीन धन्ना और मीरा ने अपनी रचनाओं में बहुत श्रद्धा के साथ इनका नामोल्लेख किया है। यह भी कहा जाता है कि मीराबाई रैदास की शिष्या थी। रैदास ने अपने एक पद में कबीर और सेन का उल्लेख किया है, जिससे स्पष्ट हो जाता है कि वे कबीर से छोटे थे। 'रैदास की परिचर्च' में उनके जन्मकाल का उल्लेख नहीं है। अनुमानतः 15 वीं शती उनका समय रहा होगा। रैदास की कविता में सामाजिक विषमता के प्रति विरोध का भाव है, किन्तु उनका स्वर कबीर जैसा आक्रामक नहीं है। रैदास की कविता की विशेषता उनकी निरीहता है। वे अनन्यता पर बल देते हैं। वह कविता में बार-बार अपने को चमार कहकर संबोधित करते हैं 'कह रैदास खलास चमारा' या 'ऐसी मेरी जाति विख्यात चमार'।

रैदास काशी के आसपास के थे। इनकी रचनाओं का कोई व्यवस्थित संकलन नहीं है, वह मात्र फुटकल रूप में ही उपलब्ध होता है। 'आदिग्रन्थ' में इनके कतिपय पद मिलते हैं। कुछ फुटकल पद 'सतबानी' में हैं। भक्ति भावना ने उनमें वह बल भर दिया था जिसके आधार पर वे डंके की चोट पर घोषित कर सके कि उनके कुटुंबी आज भी बनारस के आस-पास ढोर (मुर्दा पशु) ढोते हैं और दासानुदास रैदास उन्हीं का वंशज है—

जाके कुटुंब सब ढोर ढोवंत फिरहि अजहुँ बनारसी आसपासा।

आचार सहित विप्र करहिं डंड उत तिन तनै रविदास दासानुदासा।

अनन्यता, भगवत्-प्रेम, दैन्य, आत्मनिवेदन और सरल हृदयता इनकी रचनाओं की विशेषता है। रैदास की भाषा सरल, प्रवाहमयी और गेयता के गुणों से युक्त है। अपनी कविता में इन्होंने जन सामान्य को निश्चल भाव से भक्ति की ओर उन्मुख करने का प्रयत्न किया—

अब कैसे छुटे राम, नाम रट लागी।

प्रभु जी तुम चंदन हम पानी, जाकी अंग अंग बास समानी।

प्रभु जी तुम घन बन हम मोरा, जैसे चितवत चन्द चकोरा।

प्रभु जी तुम दीपक हम बाती, जाकी जोति वरै दिन राती।

प्रभुजी तुम मोती हम धागा, जैसे सोने मिलत सुहागा।

प्रभु जी तुम स्वामी हम दासा, ऐसी भक्ति करै रैदासा।।

गुरु नानक देव (1469–1531 ई.)

गुरु नानक का जन्म 1469 ई. में तलवंडी ग्राम, जिला लाहौर में हुआ था। इनकी मृत्यु 1531 ई. में हुई। इनके पिता का नाम कालूचंद खत्री और माँ का नाम तृप्ता था। इनकी पत्नी का नाम सुलक्षणी था। कहते हैं कि इनके पिता ने इन्हें व्यवसाय में लगाने का बहुत प्रयास किया किन्तु इनका मन बचपन से ही भक्ति की ओर अधिकाधिक झुकता गया। इन्होंने हिन्दू-मुसलमानों दोनों की समान धार्मिक उपासना पर बल दिया। वर्णाश्रम व्यवस्था और कर्मकांड का विरोध करके निर्गुण भक्ति का प्रचार किया। गुरु नानक ने व्यापक देशाटन किया और मक्का-मदीना तक की

यात्रा की। कहते हैं कि मुगल सम्राट बाबर से भी इनकी भेंट हुई थी। यात्रा के दौरान इनके साथी और शिष्य रागी नामक मुस्लिम रहते थे, जो इनके द्वारा रचित पदों को गाते थे।

गुरु नानक ने सिख धर्म का प्रवर्तन किया। इनकी रचनाओं में धार्मिक विश्वास, नाम, स्मरण, एकेश्वरवाद, परमात्मा की सर्वव्यापकता, विश्व प्रेम, नाम की महत्ता आदि का परिचय मिलता है। नानकदेव की वाणी का प्रत्येक उद्गार अनुभूति की गहराई से निकला प्रतीत होता है। सरलता और अहंभावशून्यता इनकी प्रकृतिगत विशेषताएँ हैं। निरीहता एवं दैन्य की अभिव्यक्ति में ये रैदास के समतुल्य हैं। इनका अधिकांश साहित्य पंजाबी में है, किन्तु कहीं-कहीं ब्रजभाषा-खड़ी बोली का प्रयोग भी मिलता है। इनकी बानियों का संग्रह 'आदिग्रंथ' के 'महला' नामक खंड में हुआ है। इनमें 'शब्द' और 'सलोक' के साथ 'जपुजी' 'आसादीवार' 'रहिरास' एवं 'सोहिला' का भी संग्रह है। गुरुनानक की ही परंपरा में उनके उत्तराधिकारी गुरु कवि हुए। इनमें गुरु अंगद (जन्म 1504 ई.), गुरु अमरदास (जन्म 1479ई.), गुरु रामदास (जन्म 1514ई.), गुरु अर्जुन (जन्म 1563 ई.), गुरु तेगबहादुर (जन्म 1622 ई.) और दसवें गुरु गोविन्द सिंह (जन्म 1664 ई.) हैं। गुरु गोविन्द सिंह ने अनेक ग्रंथों की रचना की। गुरु नानक की कविता का एक एक अंश देखिए—

जो नर दुख में दुख नहिं मानै ।

सुख सनेह अरु भय नहिं जाके, कंचन माटी जानै ।।

नहिं निंदा नहिं अस्तुति जाके, लोभ मोह अभिमाना ।

हरष सोक ते रहै निचारों, नाहिं मान अपमाना ।।

दादूदयाल (1544–1603 ई०)

दादू पंथ के प्रवर्तक दादू दयाल का जन्म गुजरात प्रदेश के अहमदाबाद नगर में 1544 ई. में माना जाता है। इनकी मृत्यु 1603 ई. को राजस्थान प्रांत के जयपुर के निकट नराणा गाँव में हुई, जहाँ इनके अनुयायियों का प्रधान मठ 'दादू द्वारा' वर्तमान है। दादू को परमब्रह्म संप्रदाय का प्रवर्तक माना जाता है। बाद में इस परमब्रह्म संप्रदाय को 'दादूपंथ' के नाम से संबोधित किया गया। कुछ लोग उन्हें गुजराती ब्राह्मण मानते हैं, कुछ लोग मोची या धुनिया। प्रो० चंद्रिका प्रसाद त्रिपाठी और क्षितिमोहन सेन के अनुसार दादू मुसलमान थे और उनका नाम दाउद था। कहते हैं दादू बालक रूप में साबरमती नदी में बहते हुए लोदीराम नामक नागर ब्राह्मण को मिले थे। दादू के गुरु का भी निश्चित रूप से पता नहीं चलता। कुछ लोग मानते हैं कि वे कबीर के पुत्र कमाल के शिष्य थे। पं० रामचंद्र शुक्ल का विचार है कि उनकी बानी में कबीर का नाम बहुत जगह आया है और इसमें कोई संदेह नहीं कि वे उन्हीं के मतानुयायी थे। दादू की रचनाओं का संग्रह उनके दो शिष्यों संतदास और जगन्नाथ दास ने 'हरडेवानी' नाम से किया था। इनके प्रमुख शिष्य रज्जब ने इसमें पाई जाने वाली त्रुटियों को सुधारकर उसे 'अंगवधू' नाम से प्रस्तुत किया। दादू की एक अन्य रचना 'कायाबेली' है। इन रचनाओं में दादू के संत हृदय की स्पष्ट छाप मिलती है।

दादू की बानी में ईश्वर की सर्वव्यापकता, सदगुरु महिमा, आत्मबोध, संसार की अनित्यता का निरूपण हुआ है। दादू भी कबीर के समान अनुभव को ही प्रमाण मानते थे। उन्होंने सगुण और

निर्गुण की बौद्धिक टकराहट से कविता को दूर रखा। उनकी कविता में प्रेम भाव की अभिव्यक्ति हैं। यह प्रेम निर्गुण निराकार ईश्वर के प्रति हैं –

भाई रे। ऐसा पंथ हमारा।
द्वै पंख रहित पंथ गह पूरा अबरन एक अधारा।
बाद विवाद काहूँ सौं नाहीं मैं हूँ ना जग थें न्यारा।।
समदृष्टि सँ भाई सहज में आपहिं आप बिचारा।
मैं तैं मेरी यह मति नाहीं निरबैरी निरविकारा।।
काम कल्पना कदे न कीजै पूरन ब्रह्म पियारा।
ऐहि पथि पहुँचि पार गहि दादू सो तब सहज संभारा।।

निर्गुण भक्त कवि होने पर भी इन्होंने ईश्वर के सगुण स्वरूप को मान्यता दी है। दादू की कविता जनसामान्य को ध्यान में रखकर लिखी गई है, अतएव सरल एवं सहज है। उनकी रचनाओं में इस्लामी साधना के शब्दों का प्रयोग खुलकर हुआ है। इनकी रचनाओं की भाषा पश्चिमी राजस्थानी से प्रभावित हिंदी है, इसमें गुजराती, पंजाबी, सिंधी, के साथ अरबी एवं फारसी के काफी शब्द आए हैं, फिर भी वह सहज और सुगम है।

सुंदरदास (1596–1689ई.)

सुन्दरदास 6 वर्ष की आयु में दादू के शिष्य हो गए थे। उनका जन्म 1596 ई. में जयपुर राज्य की प्राचीन राजधानी धौसा नामक स्थान पर हुआ था। दादू की मृत्यु के बाद एक संत जगजीवन के साथ वे 10 वर्ष की आयु में काशी चले आए। वहाँ 30 वर्ष की आयु तक उन्होंने जमकर अध्ययन किया। काशी से लौटकर वे राजस्थान में शेखावाटी के निकट फतहपुर नामक स्थान पर गए। देशाटन इन्हें बहुत प्रिय था, पूर्व में बंगाल, पश्चिम में द्वारिका, उत्तर में बदरिकाश्रम और दक्षिण में मध्यदेश तक इन्होंने यात्रा की। भ्रमण के समय ये दादू के सिद्धांतों का प्रचार करते थे और साथ ही साथ काव्य ग्रंथों की रचना भी करते थे।

निर्गुण संत कवियों में सुंदरदास सर्वाधिक शास्त्रज्ञ एवं सुशिक्षित थे। कहते हैं कि वे अपने नाम के अनुरूप अत्यंत सुन्दर थे। सुशिक्षित होने के कारण उनकी कविता कलात्मकता से युक्त और भाषा परिमार्जित है। निर्गुण संतों ने गेयपद और दोहे ही लिखे हैं सुंदरदास ने कवित्त और सवैये भी रचे हैं। उनकी काव्यभाषा में अलंकारों का प्रयोग खूब है। इनके बयालिस ग्रंथ कहे जाते हैं, जिनमें सर्वाधिक प्रसिद्ध रचना सुन्दरविलास है। काव्य-कला में शिक्षित होने के कारण उनकी रचनाएँ निर्गुण साहित्य में विशिष्ट स्थान रखती हैं। निर्गुण साधना और भक्ति के अतिरिक्त उन्होंने सामाजिक व्यवहार, लोकनीति और भिन्न-भिन्न क्षेत्रों के आचार-व्यवहार पर भी उक्तियाँ कही हैं। लोक धर्म और लोक मर्यादा की उन्होंने अपने काव्य में उपेक्षा नहीं की है। पतिव्रत का पालन करने वाली स्त्रियों के भावों की मार्मिक अभिव्यक्ति उनकी कविता में दिखाई देती है –

पति ही है ज्ञान ध्यान, पति ही है पुन्य दान।
पति ही है तीर्थ न्हान, पति ही को मत है।
पति बिनु पति नाहिं, पति बिनु गति नाहिं

सुंदर सकल विधि एक पतिव्रत हैं ।।'

मलूकदास (1574–1682ई.)

मलूकदास का जन्म इलाहाबाद के कड़ा नामक गाँव में 1574 ई. में हुआ। उनके पिता का नाम सुन्दरदास खत्री था। 106 वर्ष की अवस्था में इनकी मृत्यु 1682 ई० में औरंगजेब के समय में हुई। निर्गुण मत के इस प्रसिद्ध संत की गहियाँ कड़ा, जयपुर, गुजरात, मुलतान, पटना, नेपाल और काबुल तक में कायम हुई। इनके संबंध में बहुत से चमत्कार या करामातें प्रसिद्ध हैं। कहते हैं कि एक बार इन्होंने एक डूबते हुए शाही जहाज को पानी के ऊपर उठाकर बचा लिया था और रुपयों का तोड़ा गंगाजी में तैराकर कड़े से इलाहाबाद भेजा था। उनके दीक्षा—गुरु के संबंध में हिंदी के इतिहासकारों में बड़ा मतभेद है। कुछ उन्हें कील का शिष्य मानते हैं और कुछ द्राविड़ विट्ठल को उनका गुरु बताते हैं। किन्तु मलूकदास ने सुखसागर में गुरु देवनाथ के पुत्र पुरुषोत्तम का गुरु रूप में स्मरण किया है। मलूकदास के विवाह, पत्नी और एक कन्या का भी उल्लेख 'परिचर्च' में हुआ है। वे जीवन—पर्यन्त अपने पैतृक व्यवसाय द्वारा गृहस्थी का परिपालन करते रहे। आलसियों का यह मूल मंत्र —

अजगर करै न चाकरी, पंछी करै न काम।

दास मलूका कहि गए, सबके दाता राम।।

इन्हीं का है। मलूकदास के प्रमाणिक ग्रंथ हैं: ज्ञानबोध, ज्ञानपरोछि, रामअवतारलीला, रत्नखान, भक्तिविवेक, सुखसागर, ब्रजलीला, ध्रुवचरित आदि। जिनमें 'रत्नखान' और 'ज्ञानबोध' दो प्रसिद्ध पुस्तकें हैं। मलूक दास की कविता में आख्यानशैली का प्रयोग मिलता है। इन्होंने विभिन्न कथाओं का दृष्टांत देकर लोगों को इन्द्रियनिग्रह, ब्रह्मोपासना आदि का उपदेश दिया है। अवतारों और चरित्रों से संबंधित इनकी रचनाएँ भी मिलती हैं। आत्मबोध और वैराग्य मलूकदास की कविता में मुख्य सरोकार हैं —

कहत मलूक जो बिन सिर खेपै सो यह रूप बखानै।

या नैया के अजब कथा, कोई बिरला केवट जानै।

कहत मलूक निरगुन के गुण कोई बड़भागी गावै।

क्या गिरही औ क्या बैरागी जेहि हरि देये सो पावै।।

इन्होंने अवधी और ब्रजभाषा में काव्य रचना की। इनकी भाषा में अरबी—फारसी के शब्दों का प्रयोग मिलता है। इनकी भाषा व्यवस्थित एवं सुंदर दिखाई देती है। इन्होंने हिन्दू और मुसलमान दोनों को समान भाव से उपदेश दिया।

रज्जब (17वीं शताब्दी)

रज्जब दादू के शिष्य थे। ये भी राजस्थान के थे। इनकी कविता में सुंदरदास की शास्त्रीयता का तो अभाव है, किन्तु पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार "रज्जबदास निश्चय ही दादू के शिष्यों में सबसे अधिक कवित्व लेकर उत्पन्न हुए थे। उनकी कविताएँ भाव संपन्न, साफ और सहज हैं। भाषा पर राजस्थानी प्रभाव अधिक है और इस्लामी साधना के शब्द भी अपेक्षाकृत अधिक हैं।" प्रेम रस को रज्जब ने अपनी कविता में विशेष स्थान दिया है—

सबसे निर्मल प्रेम रस, पल-पल पोषै प्राण ।

जन रज्जब छाक्या रहै, साधु सन्त सुजान ।।

निर्गुण संतो की ज्ञानाश्रयी शाखा के अन्य प्रसिद्ध संत कवि अक्षर अनन्य (जन्म 1653 ई.) जंभनाथ (1451 ई.), सिंगा जी (1519 ई.) और हरिदास निरंजनी (17वीं शती) हैं। कबीर के पुत्र कमाल और प्रमुख शिष्य धर्मदास की गणना इसी परंपरा में होती है। इनमें धर्मदास (16वीं शती) की रचनाओं का संतो में बहुत आदर है। इन्होंने कबीर का शिष्य बनने पर अपनी विशाल संपत्ति लुटा दी। इनकी कविताएँ सरल और प्रेम भावापन्न हैं।

ज्ञानाश्रयी शाखा के काव्य की सामान्य विशेषताएँ –

संत साहित्य का अवलोकन करने पर ज्ञात होता है कि संत निर्गुण ब्रह्म की उपासना पर बल देते हैं। निर्गुण ब्रह्म की प्राप्ति सद्गुरु द्वारा दिए गए ज्ञान से ही हो सकती है, जो लोक में फैले माया जाल के आवरण को भेद कर ज्ञान के चक्षुओं को खोलकर साक्षात् सत्यरूपी परब्रह्म का साक्षात्कार कराता है। इसी हेतु इन कवियों को ज्ञानमार्गी कहा जाता है। कबीर के काव्य में निर्गुण मतवाद का विश्वबोध प्रकट है। वे निर्गुण को गुणरहित नहीं, गुणातीत मानते हैं और उससे अनेक प्रकार के संबंध माता, पिता, प्रिय, गुरु, आदि का स्थापित करते हैं। कबीर के यहाँ प्रेम की उत्कटता कम तीव्र नहीं, किन्तु वे ज्ञान एवं अंतस्साधना की उपेक्षा नहीं करते। वे सृष्टि की उत्पत्ति, नाश, जन्म, मृत्यु, मनुष्य की नाड़ियों, चक्रों आदि की बात काफ़ी करते हैं। वे ज्ञान को व्याकुल करने वाला या दाहक मानते हैं। उनके यहाँ ज्ञान की आँधी सब कुछ को अस्त-व्यस्त कर देती है। इसीलिए वे अपने घर को और अपने साथ चलने वाले के घर को जलाने की बात करते हैं।

संत कवियों ने भक्ति के अनुभूति-पक्ष को ही प्रधान रूप से चित्रित किया है। इन्होंने सगुणवाद अवतारवाद और मूर्तिपूजा आदि को सर्वथा त्याज्य बताया और केवल निर्गुण ब्रह्म की सत्ता को ही स्वीकार किया। एकमात्र उन्हीं की भक्ति को भवसागर से मुक्ति का एकमात्र साधन बताया है। संतकाव्य धारा के अधिकांश कवि अवर्ण हैं। उन्होंने वर्ण-व्यवस्था की पीड़ा सही थी। अतः उनमें वर्णव्यवस्था पर तीव्र आक्रमण करने का भाव है। कबीर, रैदास, सेना, पीपा आदि संतो ने ईश्वर के नाम पर जातिवाद के विरुद्ध आवाज बुलंद की एवं समझौते का रास्ता छोड़कर विद्रोह का क्रांतिकारी मार्ग अपनाया। इस धारा के कवियों पर नाथ-संतो की अंतस्साधना के साथ उनकी दुरुह प्रतीक शैली उलटबाँसी का भी प्रभाव है। इन्होंने गेयपद, दौहे, चौपाई के अतिरिक्त कुछ लोक प्रचलित छंदों का भी उपयोग किया है। इन कवियों में भाषागत सहजता और लोकभाषा की ओर झुकाव था। देशाटन की प्रवृत्ति और भाव एवं अनुभवों पर आधारित होने के कारण संत कवियों की भाषा सांस्कृतिक विविधता से युक्त होकर विशाल जनसमूह के भावों से जुड़ने में समर्थ हो सकी है।

निर्गुण प्रेमाश्रयी शाखा

भक्ति आंदोलन इतना व्यापक एवं मानवीय था कि इसमें हिन्दुओं के साथ मुसलमान भी आए। सूफ़ी यद्यपि इस्लाम मतानुयायी हैं, किन्तु अपने दर्शन एवं साधना पद्धति के कारण भक्ति

आंदोलन में गणनीय हैं। इस्लाम एकेश्वर वादी है। किन्तु सूफी साधकों ने 'अनहलक' अर्थात् 'मैं ब्रह्म हूँ' की घोषणा की। यह बात अद्वैतवादियों से मिलती-जुलती है। सूफी साधना के अनुसार मनुष्य के चार विभाग हैं— 1. नफ्स (इन्द्रिय) 2. अक्ल (बुद्धि या माया) 3. कल्ब (हृदय) 4. रूह (आत्मा)। यह साधना नफ्स और अक्ल को दबाकर कल्ब की साधना से रूह की प्राप्ति पर बल देती है। हृदय रूपी दर्पण में परमसत्ता का प्रतिबिम्ब आभासित होता है यह दर्पण जितना ही निर्मल होगा, रूप उतना ही स्पष्ट होगा, अर्थात् सूफी साधना भी हृदय की साधना है। इसी से वह भक्ति है। आचार्य शुक्ल ने इसीलिए जायसी आदि सूफी कवियों को कबीर, सूर, तुलसी की कोटि में रखा। यह बात भी महत्वपूर्ण है कि सूफी साधकों में भी प्रायः निम्न वर्ग के लोग थे और इसमें 'राबिया' जैसी महिला साधिका प्रसिद्ध है।

सूफी मत की सम्पूर्ण साधना प्रेमाश्रित रही है। व्यक्ति साधना की उच्च भूमि में पहुँचने पर भी इनकी दृष्टि में लोकरक्षा और लोकरंजन के प्रति गहरा सरोकार बना रहा। परंपरा को स्वीकार करते हुए भी रूढ़ एवं जर्जर तत्त्वों की जकड़न को इन्होंने स्वीकार नहीं किया। अपने इन्हीं उदार एवं स्वच्छंद विचारों के कारण सूफी कट्टर मुसलमानों के लिए काफिर थे।

भारत में आकर उदार सूफी मत यहाँ के दार्शनिक मतों एवं उनके सिद्धांतों का प्रभाव ग्रहण कर निरंतर विकासमान रहा है। यही कारण है कि पैगम्बरी एकेश्वरवाद से आरंभ सूफी साधकों की यात्रा सर्वात्मवाद, एकत्ववाद से होती हुई अद्वैतवाद तक पहुँचती है। सूफी मजहबी दस्तूर को अपनी व्यापक मानवीय दृष्टि के कारण नहीं स्वीकारते। वे विधि मार्ग विरोधी न थे। उन्हें कुरान के साथ-साथ वेद और पुराण भी लोककल्याण के मार्ग का प्रतिपादन करने वाले प्रतीत हुए। सूफियों के अनुसार मानव सृष्टि का चरमोत्कर्ष है और वही ईश्वर के स्वरूप की पूर्ण अभिव्यक्ति है। मानव का परम लक्ष्य उसकी पूर्णता की प्राप्ति होना चाहिए।

सूफी साधना का प्रवेश इस देश में 12 वीं शती में मुईनुद्दीन चिश्ती के समय से माना जाता है। सूफी साधना के चार संप्रदाय प्रसिद्ध हैं। 1. चिश्ती 2. सोहरावर्दी 3. कादरी 4. नक्शबंदी। मुल्ला दाउद (1379 ई.) हिन्दी के प्रथम सूफी कवि हैं। सूफी कवियों की परंपरा 19 वीं शती तक मिलती है। हिंदी का सूफी काव्य अवधी भाषा में रचित मिलता है। सूफी मुसलमान थे लेकिन उन्होंने हिंदू घरों में प्रचलित कथा-कहानियों को अपने काव्य का आधार बनाया। उनकी भाषा और वर्णन में भारतीय संस्कृति रची बसी है। प्रेम की पीर की व्यंजना इनकी विशेषता है।

प्रेमाख्यानक काव्य की परंपरा

भारतीय संस्कृति एवं साहित्य में जहाँ सीता-राम के गार्हस्थिक दाम्पत्य भाव की परंपरा मिलती है, वहाँ उसके साथ-साथ स्वच्छन्द व साहसिक प्रेम की एक अन्य परंपरा 'ऋग्वेद' से लेकर मध्ययुगीन साहित्य तक बराबर मिलती है। ऋग्वेद एवं महाभारत के अनेक आख्यान इस परंपरा के आदि स्रोत कहे जा सकते हैं। सूफी साधकों द्वारा रचित प्रेमाख्यानों पर भारतीय आख्यान परंपरा के साथ-साथ फारसी की मसनवी शैली का भी पर्याप्त प्रभाव रहा है। यह प्रभाव विषय वस्तु एवं शिल्प दोनों स्तरों पर दिखाई देता है।

ऐतिहासिक या कल्पित व्यक्तियों के साथ किसी राजकुमारी श्रेष्ठि-पुत्री गणिका या अप्सरा की प्रेमकथा की परंपरा प्राचीन है। कालीदास ने मेघदूत में 'उदयन कथा कोविद' (उदयन की कहानी कहने में पटु) जनों का उल्लेख किया है। 16वीं शती के बनारसीदास ने अर्द्धकथानक में लिखा है कि वे मधुमालती, मिरगावत पढ़ते थे। ये सूफी नहीं शुद्ध लौकिक प्रेमकाव्य थे। एक ही कहानी को आधार बनाकर मध्यकाल में अनेक रचनाकारों ने काव्य लिखे हैं। अनेक सूफी कवियों ने यह लिख दिया है कि "आदि अंत जस कथा रही या पुनि हम खोलि अरथ जब कहा।" इससे यही स्पष्ट होता है कि ये कथाएँ पहले से शुद्ध लौकिक प्रेम कथाओं के रूप में प्रचलित थी। अनुमानतः जैन मतावलंबी रचनाकारों ने आदिकाल में 'भविस्सयत कहा' जैसी जो रचनाएँ की हैं, वे भी लोक प्रचलित कथाओं पर आधारित हैं। जैसे सूफी कवियों ने उन्हें सूफी ढाँचें में बाँधा वैसे जैन मतावलंबी कवियों ने उन्हें जैन धर्म के ढाँचे में प्रस्तुत किया होगा। ऐसा रामकथा, कृष्णकथा के साथ भी हुआ।

लौकिक प्रेम कथाओं की परंपरा सूफी काव्य के समांतर चलती रही है। ईश्वरदास की 'सत्यवती कथा' को उसी परंपरा में माना जाना चाहिए। कुशललाभ का 'ढोला मारू रा दूहा' (16 वीं शती) जिसमें ढोला एवं मारवड़ी की प्रेम-कथा चित्रित है, प्रसिद्ध प्रेम आख्यानक है। कुशललाभ की दूसरी रचना माधवानल-कामकंदला है। इसी प्रेम कथा पर 1547 ई. में आलम ने भी काव्य रचना की। 'सारंगा-सदावृक्ष' की प्रेम कथा पर अनेक रचनाएँ मिलती हैं। यह कथा गद्य में भी मिलती है। इसी प्रकार किसी अज्ञात कवि ने दिल्ली के सुलतान फिरोजशाह के पुत्र कुतुबुद्दीन और साहिबा की प्रेम कथा पर 'कुतुब-सतक' की रचना की। कहने का आशय यह है कि सूफी काव्य के साथ-साथ शुद्ध लौकिक प्रेम आख्यानों की परंपरा भी चलती रही। सूफी कवियों ने इसी आख्यान परंपरा का उपयोग किया और उसे सूफी सिद्धान्तों के ढाँचें में इस सफाई से गढ़ा कि कथा प्रतीकात्मक हो गई। प्रतीकात्मकता में दोहरापन होता है। वह प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों अर्थ देती है।

प्रेमाश्रयी शाखा के प्रमुख कवि मुल्ला दाउद (14 वीं शताब्दी)

मुल्ला दाउद या मौलाना दाउद की रचना 'चंदायन' से सूफी प्रेमाख्यानक काव्य परंपरा का आरम्भ माना जाता है। चंदायन का रचना काल 1379 ई. है। मुल्ला दाउद रायबरेली जिले में डलमऊ के थे। वहीं चंदायन की उन्होंने रचना की थी। यह काव्य बहुत लोकप्रिय एवं सम्मानित था। दिल्ली के मखदूम शेख तकीउद्दीन रब्बानी जन-समाज के बीच इसका पाठ किया करते थे। चंदायन पूर्वी भारत में प्रचलित लौरिक, उसकी पत्नी मैना और उसकी विवाहिता प्रेमिका चंदा की प्रेमकथा पर आधारित है। बीच-बीच में चंदा को इस काव्य में भी पद्मावत की भाँति अलौकिक सत्ता का प्रतीक बनाया गया है। चंदायन की भाषा परिष्कृत अवधी है जिससे लगता है कि 14 वीं शताब्दी तक अवधी काव्य-भाषा के रूप में परिष्कृत और प्रतिष्ठित हो चली थी। चंदायन के छंद से एक दोहा उद्धृत है -

पियर पात जस बन जर, रहेउँ काँप कुँभलाई।

विरह पवन जो डोलेउ, टूट परेउँ घहराई।।'

कुतुबन (15-16 वीं शताब्दी)

कुतुबन चिश्ती वंश के शेख बुरहान के शिष्य थे और जौनपुर के बादशाह हुसैनशाह के आश्रित थे। चौपाई-दोहे के क्रम में कुतुबन ने 'मृगावती' की रचना 1503-04 ई. में की थी। ये सोहरावर्दी पंथ के ज्ञात होते हैं। इसमें चंदनगर के राजा गणपति देव के राजकुमार और कंचनपुर के राजा रूपमुरारि की कन्या मृगावती की प्रेम कथा का वर्णन है। इसमें नायक मृगी रूपी नायिका पर मोहित हो जाता है और उसकी खोज में निकल पड़ता है। अन्त में शिकार खेलते समय सिंह द्वारा मारा जाता है। यह रचना अनेक कथानक रूढ़ियों से युक्त है। इसकी भाषा प्रवाहमयी है। इस काव्य की परिणति शांत रस में दिखाई गई है—

रुकमिनि पुनि वैसहि मरि गई। कुलवंति सत सो सति भई।।
बाहर वह भीतर वह होई। घर बाहर को रहै न जोई।।
बिधि कर चरित न जानै आनू। जो सिरजा सो जाहि निआनू।।

मलिक मुहम्मद जायसी (16 वीं शताब्दी)

जायसी हिंदी के सूफी काव्य परंपरा के साधकों एवं कवियों के सिरमौर हैं। ये अमेठी के निकट जायस के रहने वाले थे, इसलिए इन्हें जायसी कहा जाता है। ये प्रसिद्ध सूफी फकीर शेख मोहिदी के शिष्य थे। जायसी अपने समय के सिद्ध फकीरों में गिने जाते थे। अमेठी के राजघराने में इनका बहुत मान था। इनकी तीन रचनाएँ उपलब्ध हैं — अखरावट, आखिरी कलाम और पद्मावत।

कहते हैं कि एक नवोपलब्ध काव्य 'कन्हावत' भी इनकी रचना है, किन्तु कन्हावत का पाठ प्रामाणिक नहीं लगता। अखरावट में देवनागरी वर्णमाला के एक-एक अक्षर को लेकर चौपाइयों में सैद्धांतिक बातें कही गई हैं। आखिरी कलाम में कयामत का वर्णन है। कवि के यश का आधार है पद्मावत। इसकी रचना कवि ने 1520 ई. (927 हिजरी) के आसपास की थी। कुछ लोग 27 को सैंतालिस पढ़कर इसका रचनाकाल 1547 ई. मानने के पक्ष में हैं—

सन नौ से सत्ताईस अहा। कथा आरंभ बैन कवि कहा।

इस कृति के संबंध में आचार्य शुक्ल ने लिखा— "जायसी की अक्षय कीर्ति का आधार है 'पद्मावत', जिसके पढ़ने से यह प्रकट हो जाता है कि जायसी का हृदय कैसा कोमल और 'प्रेम की पीर' से भरा हुआ था। क्या लोकपक्ष में, क्या आध्यात्म पक्ष में दोनों ओर उसकी गूढ़ता, गंभीरता और सरसता विलक्षण दिखाई देती है।"

पद्मावत प्रेम की पीर की व्यंजना करने वाला विषद प्रबंध काव्य है। यह दोहा-चौपाई में निबद्ध मसनवी शैली में लिखा गया है, जिसमें कवि ने अल्लाह, हजरत मुहम्मद, उनके चार मित्रों, शाहेवक्त शेरशाह सूरी और समसामयिक गुरु एवं पीरों की वन्दना की है। पद्मावत की काव्य भूमिका विषद एवं उदात्त है। कवि ने प्रारंभ में ही प्रकट कर दिया है कि जीवन और जगत को देखने वाली उसकी दृष्टि व्यापक और परस्पर विरोध को आँकने वाली है। कवि अल्लाह को इस

विविधतामय सृष्टि का कर्ता कहता है, विविध प्राणियों, वस्तुओं, स्थितियों का परिगणन करता है, फिर उनमें परस्पर विरोध देखता है—

कीन्हेसि नाग मुखहि विष बसा। कीन्हेसि मंत्र हरह जैहिं डसा।

कीन्हेसि अमिअ जिअन जेहि पाएँ। कीन्हेसि विष जो मीचु तेहि खाएँ।

कीन्हेसि अखि मीठि रस भरी। कीन्हेसि करइ बेलि बहु फरी।

उपर्युक्त पंक्तियों में जायसी वस्तुओं का परस्पर विरोध देख-दिखा रहे हैं। उनकी दृष्टि सामाजिक विषमता की ओर भी जाती है—

कीन्हेसि कोई भिखारि कहि धनी। कीन्हेसि संपति बिपति पुन धनी।

काहू भोग भुगुति सुख सारा। कहा काहू भूख भवन दुख भारा।

जायसी इन सबको अल्लाह का ही किया हुआ मानते थे। पद्मावत की कथा चित्तौड़ के शासक रतनसेन और सिंहल देश की राजकन्या पद्मिनी की प्रेम-कहानी पर आधारित है। इसमें कवि ने कौशलपूर्वक कल्पना एवं ऐतिहासिकता का मिश्रण कर दिया है। इसमें अलाउद्दीन खिलजी द्वारा चित्तौड़ पर आक्रमण और विजय ऐतिहासिक घटना है। रतनसेन अपनी विवाहिता पत्नी नागमती को छोड़कर पद्मिनी की खोज में योगी बनकर निकल पड़ता है। पद्मिनी से उसका विवाह होता है। राघवचेतन नामक पंडित पद्मिनी के रूप की प्रशंसा अलाउद्दीन से करता है। अलाउद्दीन छल से रतनसेन को पकड़कर दिल्ली ले जाता है। गोरा-बादल वीरतापूर्वक रतनसेन को छोड़ा लेते हैं। बाद में रतनसेन एक अन्य राजा देवपाल से लड़ाई में मारा जाता है। पद्मिनी और नागमती राजा के शव को लेकर सती हो जाती हैं। अलाउद्दीन जब चित्तौड़ पहुँचता है तो उसे उसकी राख मिलती है।

जायसी ने इस प्रेम कथा को आधिकारिक एवं आनुषंगिक कथाओं के ताने-बाने में बहुत सुन्दर जतन से बाँधा है। पद्मावत आद्यंत 'मानुष प्रेम' अर्थात् मानवीय प्रेम की महिमा व्यंजित करता है। हीरामन शुक शुरु में कहता है: 'मानुस प्रेम भएउँ बैकुंठी। नाहि त काह छार भरि मूठी।' रचना के अंत में यह छार भरि फिर आती है। अलाउद्दीन पद्मिनी के सती होने के बाद चित्तौड़ पहुँचता है तो यह राख ही मिलती है: 'छार उठाइ लीन्हि एक मूठी। दीन्हि उठाइ पिरिथमी झूठी।' कवि ने कौशल से यह मार्मिक व्यंजना की है जो पद्मिनी रतनसेन के लिए 'पारस रूप' है वही अलाउद्दीन जैसे के लिए मुट्ठी भर धूल। मध्यकालीन रोमांचक आख्यानों का कथानक प्रायः बिखर जाता है, किन्तु पद्मावत का कथानक सुगठित है।

पद्मावत में नगर वर्णन, षड्भुज वर्णन, बारह मासा, नख-शिख वर्णन केवल रुढ़िपालन के रूप में नहीं मिलता है। उसमें कवि की कल्पना, सहृदयता के सहारे मार्मिक एवं करुण दृश्य-विधान खड़ा करती है। पद्मावत में प्रकृति का प्रतीकात्मक उपयोग है, किन्तु वह अपना स्वतंत्र व्यक्तित्व भी रखती है। जायसी के नख-शिख वर्णन की विशेषता यह है कि वह मांसल होते हुए भी मनुष्य की पाशविक वृत्तियों को उत्तेजित नहीं करता, बल्कि एक रहस्य और करुणा के लोक में हमें ले जाता है। पद्मावत का नागमती के विरह-वर्णन का प्रसंग अत्यंत मार्मिक है। उसकी मार्मिकता का आधार है मध्यकालीन भारतीय नारी की विवशता। एक ओर नारी का विवश

और पूर्ण आत्म-समर्पण दूसरी ओर पुरुष द्वारा उसकी उपेक्षा। मार्मिकता का दूसरा कारण नागमती को लोकसामान्य भाव-भूमि पर स्थित करके उसके विरह का चित्रण करना है। वह रानी है, किन्तु उसे जिस रूप में प्रस्तुत किया गया है वह मध्यकालीन सामान्य वर्ग की नारी का रूप है, राजभवन में रहने वाली का नहीं –

पुरव नछत्र सिर ऊपर आवा। हाँ बिनु नाँह मंदिर को छावा।
बरिसै मघा झँकोरि झँकोरि। मोर दुइ नैन-चुवहिं जसि ओरी।।

पद्मावत का रचनाकार लौकिक कथा का वर्णन कहीं-कहीं इस प्रकार करता है कि अलौकिक पर परोक्ष-सत्ता का अर्थ संकेतित हो जाता है। जैसे मानसरोदक खण्ड का यह वर्णन –

‘सरवर तीर पद्मिनी आई। खोंपी छोरि केस मुकलाई।।
ससिमुख, अंग मलयगिरि बासा। नागिन झँपि लीन्ह चहुँ पासा।।
ओनई घटा परी जग छाँहा। ससि के सरन लीन्ह जनु राहा।।

ऐसे वर्णनों से पद्मावत भरा है। इस काव्य में पद्मिनी परम सत्ता की प्रतीक है, रतनसेन साधक का, राधवचेतन शैतान का। कथा लौकिक धरातल पर चलने के साथ लोकोत्तर अर्थ की भूमि पर भी चलती है। इसीलिए पद्मावत को प्रतीकात्मक काव्य कहा जाता है, किन्तु यह प्रतीकात्मकता सर्वत्र नहीं है और इससे लौकिक कथा रस में व्याघात नहीं पड़ता।

पद्मावत में हठयोग, कुंडलिनी योग, रसायन साधना का पर्याप्त प्रभाव है। वैष्णव निरीहता और अहिंसा का भी संदेश है। हिन्दू पौराणिक पात्रों का उल्लेख कहीं-कहीं संस्कारी मानसिकता के अनुकूल नहीं है। इस्लाम के एक संप्रदाय की सूफी साधना तो उसकी रचना की प्रेरणा ही है। इस प्रकार पद्मावत मध्यदेश की प्रायः सभी धार्मिक साधनाओं का रूप प्रस्तुत करता है।

पद्मावत विशुद्ध अवधी में रचित काव्य है। इसमें रामचरितमानस की भाँति अनेक क्षेत्र की भाषाओं का मेल नहीं। इसीलिए विशुद्ध अवधी का जो सहज और चलता रूप पद्मावत में मिलता है, मानस में नहीं। इसमें तत्सम शब्दों का प्रयोग भी बहुत कम या नहीं के बराबर है। जायसी का प्रिय अंलकार हेतुत्प्रेक्षा है, जैसे –

पिउ सो कहहु संदेसड़ा हे भौरा हे काग।
सो धनि विरहें जरि मुई तेहिक धुआँ हम लाग।।

जायसी के अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णनों की विशेषता यह है कि वे वस्तु की अतिरंजना नहीं करते—अतिशयोक्ति के द्वारा भाव-सत्य का रूप खींचते हैं। इसीलिए उनकी अतिशयोक्तियाँ भी मार्मिक होती हैं।

मंझन (16वीं शताब्दी)

मंझन ने 1545 ई. में मुधमालती की रचना की। मुधमालती नाम की अन्य रचनाओं का भी पता चलता है। लेकिन मंझन कृत मधुमालती जायसी के पद्मावत के पाँच वर्ष बाद रची गई। जायसी ने अपने पूर्ववर्ती सूफी प्रेमाख्यानक ग्रंथों का उल्लेख करते हुए जिस मुधमालती का नाम लिया है, वह मंझन की रची हुई नहीं है। इस ग्रंथ में कनेसर नगर के राजा सूरजभान के पुत्र राजकुमार मनोहर का महारस नगर की राजकुमारी मधुमालती के साथ प्रेम और पारस्परिक वियोग

की कथा है। इसमें इस प्रेम कथा के समानांतर प्रेमा और ताराचंद की भी प्रेमकथा चलती है। मधुमालती में नायक को अप्सराएँ उड़ाकर मधुमालती की चित्रसारी में पहुँचा देती है, वहीं नायक नायिका को देखता है एवं दोनों के बीच प्रेम पनपता है। मंझन ने इस कथा में प्रेम का उच्च आदर्श सामने रखा है। सूफी काव्यों में नायक की प्रायः दो पत्नियाँ होती हैं किन्तु इसमें मनोहर अपने द्वारा उपकृत प्रेमा से बहन का संबंध स्थापित करता है। इसमें जन्म-जन्मांतर के बीच प्रेम की अखंडता प्रकट की गई है। इस दृष्टि से इसमें भारतीय पुनर्जन्मवाद की बात कहीं गई है। जबकि इस्लाम पुनर्जन्मवाद नहीं मानता। लोक के वर्णन के द्वारा अलौकिक सत्ता का संकेत सभी सूफी काव्यों के समान इसमें भी पाया जाता है, जैसे—

देखत ही पहिचानेक तौही। एही रूप जेहि छँदरयो मोहीं ॥
 एही रूप बुत अहै छपाना। एही रूप रब सृष्टि समाना ॥
 एही रूप सकती औ सीऊ। एही रूप त्रिभुवन कर जीऊ।
 एही रूप प्रगटे बहु भेसा। एही रूप जग रंक नेरसा ॥

उसमान (16-17 वीं शताब्दी)

उसमान कवि की 'चित्रावली' सन 1613 ई. में लिखी गई थी। ये जहाँगीर के समय में वर्तमान थे और गाजीपुर के रहने वाले थे। इनके पिता का नाम शेख हुसैन था और ये पाँच भाई थे। इन्होंने अपना उपनाम 'मान' लिखा है। ये शाह निजामुद्दीन चिश्ती की शिष्य परंपरा में हाजीबाबा के शिष्य थे। चित्रावली का कथानक कल्पनाश्रित है। इसमें नेपाल के राजकुमार सुजान एवं रूपनगर की राजकुमारी चित्रावली के साथ विवाह वर्णन अत्यंत सरस रूप में हुआ है। रचनाकार अपने रचनाविधान में जायसी से प्रभावित रहा है। जायसी की ही पद्धति पर नगर, सरोवर, यात्रा, दान महिमा आदि का वर्णन चित्रावली में भी है। इसमें सूफी और सूफी प्रेमाख्यानक इतर काव्य की परंपराओं और काव्य रूढ़ियों का सुंदर प्रयोग हुआ है। इस काव्य में विरह वर्णन के अंतर्गत षड्भूत का वर्णन सरल एवं मनोहर है —

ऋतु बंसत नौतन बन फूला। जहँ जहँ भौर कुसुम रंग भूला ॥
 आहि कहाँ सो भँवर हमारा। जेहि बिनु बसत बसंत उजारा ॥
 रात बरन पुनि देखि न जाई। मानहूँ दवा देहूँ दिसि लाई ॥
 रतिपति दूर व ऋतुपति बली। कानन देह आई दलमली ॥

इसके अतिरिक्त सूफी काव्य परंपरा के अन्य उल्लेखनीय कवि और काव्य इस प्रकार हैं— शेख नबी ने 1619 ई. में 'ज्ञानद्वीप' नामक काव्य लिखा। कासिम शाह ने 1731 ई. में 'हंस जवाहिर' रचा। नूर मुहम्मद ने 1744 ई0 में 'इंद्रावती' और 1764 ई0 में 'अनुराग बाँसुरी' लिखी। अनुराग बाँसुरी में शरीर, जीवात्मा और मनोवृत्तियों को लेकर रूपक बाँधा गया है। इन्होंने चौपाइयों के बीच में दोहे न रखकर बरवै रखे हैं।

सूफी काव्य धारा की सामान्य विशेषताएँ —

सूफी काव्य अपनी अंतर्वर्ती विशेषताओं के कारण प्रेमाश्रयी, प्रेममार्गी, प्रेमकाव्य, प्रेमाख्यानक तथा कथा-काव्य के नाम से जाना जाता है। इससे स्पष्ट है कि इस काव्यधारा की मूल चेतना प्रेम

रही है। इस प्रेम में भी विरह स्थिति की प्रधानता रही है। इस मत पर आधारित काव्य में भी प्रेम की उत्कट विरह व्यंजना और प्रतीकात्मकता दिखाई देती है। इसीलिए सूफी कवि 'प्रेम की पीर' के कवि कहे गए हैं। इन्होंने प्रायः भारत में लोक प्रचलित कथाओं को अपने प्रबन्ध काव्य का आधार बनाया है। उस कथा को बड़े कौशल से सूफी मत के अनुकूल रूपायित किया है। इनमें भारतीय संस्कृति सुरक्षित ही नहीं है, वह समृद्ध भी हुई है। सूफी कवियों के साहित्य की आत्मा विशुद्ध भारतीय है, यद्यपि इसमें प्रेम और धर्म की विदेशी साधना भी घुलमिल गई है। प्रबंध काव्य मसनवी शैली में रचित है अर्थात् सर्गबद्ध नहीं है, काव्य को घटनाओं के शीर्षकों में विभाजित किया गया है, किन्तु इसका काव्य रूप मध्यकाल की प्राकृत, अपभ्रंश परंपरा के रोमांचक आख्यानों से जुड़ा है। तुलसीदास ने रामचरितमानस की रचना के लिए पद्मावत के ही काव्य रूपात्मक ढाँचे को चुना।

हिन्दी की मध्ययुगीन कविता में सूफी काव्य का रूप युग के महत्त्वपूर्ण धुवों-राजाश्रय एवं धर्माश्रय को छोड़ लोकाश्रय में पनपा। लोक भूमि में पल्लवित पोषित होने के कारण ही इसमें लोकमन की साहित्यिक अभिव्यक्ति हुई। मानवता के सामान्य भावों को अपने प्रेमाख्यानों द्वारा चरितार्थ कर इन्होंने एक संवाद-सेतु निर्मित किया, जहाँ व्यक्ति, संप्रदाय, मत, सिद्धांत, वाद की खाइयाँ अपने आप पट जाती हैं। इन्होंने मनुष्य के भीतर छिपे प्रेम की रचनात्मक शक्ति को पहचाना और युगीन आवश्यकता की जमीन पर उसका प्रतिपादन किया। सूफी कवियों की भाषा अवधी है। ये चौपाई दोहे में कड़वक बद्ध है। एक सूफी कवि नूर मुहम्मद ने अनुराग बाँसुरी में दोहे की जगह बरवै का व्यवहार किया है। सूफी जन मानस के कवि हैं। इसी लोक रंगत के कारण वस्तु वर्णन प्रायः इतिवृत्तात्मक, अभिद्यापरक शैली में किए गए हैं।

रामभक्ति काव्य धारा

राम भारतीय-संस्कृति के भाव-नायक हैं। इस भाव-नायक की कथा में हर युग कुछ न कुछ जोड़ता चला आया है। राम ऐतिहासिक पुरुष नहीं है- पुराण पुरुष हैं, मिथक नायक है- भावनायक और लोकनायक। देश और काल के परिवर्तन चक्रों में पड़े राम को लोकनायक बनने में हजारों वर्ष लग गए। वैदिक काल के बाद संभवतः छठी शताब्दी ई. पू. में इक्ष्वाकुवंश के सूत्रों द्वारा रामकथा-विषयक गाथाओं की सृष्टि होने लगी। रामकथा के विद्वानों की एक बड़ी संख्या यह मानती है कि आदिकवि वाल्मीकि से कई शताब्दी पूर्व राम कथा को लेकर आख्यान काव्य परंपरा मिलती है। किन्तु वह वाचिक परंपरा थी अतः इसका साहित्य आज अप्राप्य है। ऐसी स्थिति के कारण वाल्मीकि कृत रामायण प्रचीनतम उपलब्ध रामकाव्य है। भारतीय परंपरा वाल्मीकि को 'आदिकवि' और रामायण को 'आदिकाव्य' मानती है। यह भी इस बात का प्रमाण है कि काव्य रूप में रामायण को ही सर्वप्रथम लोकप्रतिष्ठा प्राप्त हुई है।

बौद्धों ने कई शताब्दियों पूर्व राम को 'बोधिसत्त्व' मानकर रामकाव्य को जातक साहित्य में स्थान दिया है। बौद्धों की भांति जैनियों ने भी राम कथा को अपनाया। जैन कवि विमलसूरी ने 'पउमचरिय' प्राकृत भाषा में लिखकर रामकथा को जैन धर्म के साँचे में ढाल दिया। संस्कृत के सृजनात्मक साहित्य में रामकथा को लेकर महाकाव्य एवं नाटकों की एक विशाल परंपरा मिलती है। कालिदास ने रघुवंश में पूरी रघुवंश की परंपरा का उल्लेख किया। इस परंपरा का श्रेष्ठ रूप

भवभूति के 'महावीरचरित्र' तथा 'उत्तररामचरित्र' में मिलता है। भवभूति ने राम तथा अयोध्या की जनता के सामने सीता-चरित्र संबंधी करुण कथा के अभिनय की योजना की एवं यह सिद्ध किया कि मानव मन को स्पर्श करने में करुण रस जैसा दूसरा कोई रस नहीं है। भारतीय भाषाओं में राम काव्य की परंपरा बहुत विशाल हैं। दक्षिण की भाषाओं में प्राचीनतम प्राप्त रामकथा कम्बन कृत तमिल रामायण है। उत्तरी भारत में तुलसी रचित 'रामचरितमानस' तथा 'कृतिवासीय रामायण' दोनों बहुत लोकप्रिय हैं।

रामानंद को रामभक्ति परंपरा के चिंतन का मेरुदण्ड कहा जा सकता है। उन्होंने ही सर्वप्रथम लोक भाषा में रचना कर्म करने की प्रेरणा दी। रामानंद जी राघवानंद के शिष्य एवं रामानुजाचार्य की परंपरा के आचार्य थे। रामानंद की दो भुजाएँ-निर्गुण धारा में कबीर और सगुणधारा में तुलसीदास दोनों ही रामानंद के मानस शिष्य हैं। रामानंद के अराध्य हैं- श्रीराम। वे शील शक्ति एवं सौन्दर्य के केन्द्र हैं। रामानंद का यही प्रतिमान तुलसी ने 'मानस' में अपनाया है। रामानंद संप्रदाय का मानना है कि संसार में एकमात्र कर्ता, पालक एवं संहर्ता राम ही हैं- जीव उनका ही अंश है। सीता, राम की अनादि सहचरी आद्याशक्ति है। सीता राम की एकाग्र भाव से भक्ति ही भव-मोक्ष का साधन है। इस संप्रदाय की मुख्य भक्ति दास भाव की है। भक्ति के अधिकारी ब्राह्मण, शुद्र सभी हैं। यहाँ कर्मकांड एवं वर्ण-व्यवस्था को व्यर्थ बताया गया है। उन्होंने भक्ति को सभी प्रकार की संकीर्णवादिता से दूर करके इतना व्यापक बनाया कि उसमें गरीब-अमीर, स्त्री-पुरुष, निर्गुण-सगुण, सवर्ण-अवर्ण, हिन्दू-मुसलमान, सभी आ सकें। कबीर, तुलसी, मैथिलीशरण पर रामानंदी विचारधारा का गहरा प्रभाव है।

तुलसीदास हिन्दी रामभक्ति शाखा के सिरमौर हैं। तुलसी से पूर्व और पश्चात हिन्दी के अनेक कवियों ने राम-कथा को आधार बनाकर काव्य रचना की। यहाँ राम भक्त कवियों और उनकी रचनाओं का संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है।

रामभक्ति शाखा के प्रमुख कवि

रामानंद

रामानंद का जन्म 1300 ई. के आसपास काशी में हुआ था और श्री वैष्णव संप्रदाय के आचार्य राघवानंद से इन्होंने दीक्षा ग्रहण की थी। रामानंद ने भक्ति को शास्त्रीय मर्यादा के बंधन से मुक्त माना। जाति और वर्ण के भेदभाव से ऊपर उठकर भक्ति को जनसामान्य से जोड़ने का प्रयत्न किया। इसलिए रामानंद की शिष्य परंपरा का संबंध रामभक्ति शाखा के तपसी और उदासी संप्रदाय से जोड़ा जाता है, वहीं निर्गुण भक्ति के ज्ञानमार्गी परंपरा से भी उनका संबंध संकेतित किया जाता है। राम को अपना आराध्य स्वीकार करते हुए रामानंद ने गाया- 'जाति-पाँति पूछे नहिं कोई। हरि को भजै सो हरि का होई।' रामानंद के शिष्यों की सूची भक्तमाल में इस प्रकार दी हुई है-

अनंतानंद कबीर सुखा सुरसुरा पदमावति नरहरि
पीपा भावानंद रैदास धना सेन सुरसुर की धरहरि।

रामानंद संस्कृत के पंडित थे। उन्होंने अपने मत को 'आनंद भाष्य' में प्रस्तुत किया और विशेष दार्शनिक विचारधारा को 'श्रीरामार्चन पद्धति', 'श्री वैष्णवमताब्ज भास्कर' में स्पष्ट किया। रामानंद के शिष्य अनंतानंद थे। इनके शिष्य कृष्णदास पयोहारी ने राजस्थान के जयपुर के निकट गलता नामक स्थान में रामानंद की गद्दी स्थापित की। रामानंद ने ही हनुमान की पूजा आरती का तुलसीदास से पहले उत्तर भारत में विस्तार किया। उन्होंने ही 'आरती श्री हनुमान लला की, दुष्ट दलन रघुनाथ कला की' प्रार्थना की रचना की जो भक्तों का कंठहार बनी है। इनके अन्य ग्रंथ हैं—सिद्धांतपटल, रामरक्षास्तोत्र, योगचिन्तामणि, श्री रामाराधन, वेदांत विचार, शिवरामाष्टक, हनुमानस्तुति आदि। इस संप्रदाय के प्रसिद्ध स्थान अयोध्या, चित्रकूट, मिथिला और काशी रहे हैं।

विष्णुदास

विष्णुदास ग्वालियर नरेश डूंगरेन्द्र (सन् 1424 ई.) के राजकवि थे। इनकी कई पुस्तकों का उल्लेख मिलता है, किन्तु उनमें से 'रामायण कथा' को प्रमाणिक माना जाता है। इसे रामकथा से संबंधित हिन्दी का प्रथम काव्य कहना अत्युक्तिपूर्ण नहीं होगा। इस पुस्तक का रचना काल सन् 1442 ई. है। निम्नलिखित उदाहरण से स्पष्ट होता है कि इसकी भाषा प्रसाद गुण युक्त है। राम वियोग के कारण सीता की मानसिक-शारीरिक दशा का आलंकारिक वर्णन कवि ने इस प्रकार किया है—

रावण सीता देखी ऐसी। वन मँह बेलि फूल बिनु जैसी।
सब अभरण सिंगार विहीन। कंत वियोग दई दुख दीन।
जिसँ मेघ मँह पैठहि मेह। तिसै देह यौँ ढँकति देह।।

अग्रदास

रामभक्त कवियों में अग्रदास का नाम प्रमुख है। ये रामानंद की शिष्य परंपरा में हुए कृष्णदास पयोहारी के शिष्य थे। कृष्णदास पयोहारी ने जयपुर के समीप गलता नामक स्थान में रामानंद संप्रदाय की जो गद्दी स्थापित की, उससे अग्रदास जुड़े थे। गलता की गद्दी पर परवर्ती काल में जो शिष्य बैठे, उन्होंने भी भक्ति साहित्य की विपुल मात्रा में रचना की। अग्रदास 1556 ई. के लगभग विद्यमान थे। अग्रदास ने रामभक्ति को कृष्ण भक्ति के लोकानुरंजन के समीप लाने का प्रयत्न किया। रामभक्ति परंपरा में रसिक भावना के समावेश का श्रेय इन्हीं को प्राप्त है। इन्होंने सखी संप्रदाय के लिए रास्ता साफ कर दिया। 'अष्टयाम्' अथवा 'रामाष्टयाम' इनकी सर्वप्रमुख रचना है—जिसमें सीता वल्लभ राम की दैनिक लीलाओं का चित्रण है। राम के ऐश्वर्य रूप की झाँकी इन लीलाओं में स्पष्ट दिखाई देती है। 'ध्यानमंजरी' में राम और उनके भाइयों का सौन्दर्य वर्णन के साथ अयोध्या एवं सरयू नदी की शोभा वर्णित है। इनके अन्य ग्रंथ हैं— रामभजन मंजरी, उपासना-बावनी, पदावली, हितोपदेश भाषा आदि। इनकी भाषा ब्रजभाषा है और उसमें प्रवाह के साथ परिष्कार भी है। इन्हीं अग्रदास के शिष्य भक्तमाल के रचयिता प्रसिद्ध नाभादास जी थे। अग्रदास की कविता उसी ढंग की है जिस ढंग की कृष्णोपासक कवि नंददास की। एक उदाहरण देखिए —

कुंडल ललित कपोल जुगल अस परम सदेसा ।
तिनको निरखि प्रकास लजत राकेस दिनेसा ।
मेंचक कुटिल विसाल सरोरुह नैन सुहाए ।
मुख पंकज के निकट मनो अलि छौना आए ।।

ईश्वरदास

तुलसी से पूर्व के रामकाव्य परंपरा में ईश्वर दास का नाम भी स्मरणीय है। ये सिकन्दर लोदी के समय में वर्तमान थे। इनकी रचना 'सत्यवती कथा' (1501ई.) के आधार पर ईश्वरदास का जन्मकाल निर्धारित किया जाता है। रामकथा से संबंधित इनकी तीन रचनाएँ मिलती हैं— 'रामजन्म', 'अंगदपैज' और 'भरत मिलाप'। इनके अतिरिक्त स्वर्गारोहिणी कथा एवं एकादशी कथा भी इनकी रचनाएँ हैं। भरत मिलाप इनकी प्रसिद्ध रचना है। भरत की अनुपस्थिति में माता-पिता की आज्ञा से राम का वनगमन, ननिहाल से लौटने पर यह समाचार सुनकर भरत का दुःखी होना एवं प्रजा के साथ राम से मिलने वन में पहुँचना आदि की कथा का करुणापूर्ण वर्णन कवि ने किया है। 'अंगदपैज' में कवि ने रावण की सभा में अंगद के पैर जमाकर डट जाने का वीररस पूर्ण वर्णन किया है। इनकी भक्ति से जुड़ा एक पद है जिसमें उन्होंने राम से दया करने की प्रार्थना की है—

रामनाम कवि नरक नेवारा । तेहि सेवा मनु लागु हमारा ।
संख, चक्र धरू सारंग पानी । दया करहु कछु कहीं बखानी ।।

तुलसीदास

तुलसीदास राम काव्य-परंपरा के सर्वश्रेष्ठ गायक एवं कवि के रूप में जाने जाते हैं। इनके जन्मकाल के विषय में एकाधिक मत हैं। बेनीमाधव दास द्वारा रचित गोसाईं चरित्र और महात्मा रघुवरदास कृत तुलसीचरित दोनों के अनुसार तुलसीदास का जन्म 1497 ई. में हुआ था। 'शिवसिंह सरोज' के अनुसार इनका जन्म सं. 1583 (1526ई.) के लगभग हुआ था। पं० रामगुलाम द्विवेदी इनका जन्म सं० 1589 (1532ई.) मानते थे। यह निश्चित है कि ये महाकवि 16वीं शताब्दी में विद्यमान थे।

जनश्रुति के अनुसार गोस्वामी तुलसीदास के पिता का नाम आत्माराम दुबे और माता का नाम हुलसी था। मिश्रबन्धुओं ने इन्हें कान्यकुब्ज माना है। मूल गोसाईं चरित और तुलसी चरित्र के आधार पर आचार्य शुक्ल आदि ने इन्हें सरयूपारिण ब्राह्मण माना है। तुलसी का बचपन घोर दरिद्रता एवं असहायावस्था में बीता था। उन्होंने लिखा है, माता-पिता ने दुनिया में पैदा करके मुझे त्याग दिया। अभुक्तमूल नक्षत्र में जन्म लेने के कारण माता-पिता ने इन्हें त्याग दिया था। यह मान्य है कि तुलसी की मृत्यु सं. 1680 अर्थात् 1623 ई. में हुई। उनकी मृत्यु के विषय में यह दोहा प्रसिद्ध है—

संवत सोरह सौ असी असी गंग के तीर ।
श्रावण शुक्ला सप्तमी तुलसी तज्यो सरीर ।।

तुलसी के जन्मस्थान के विषय में काफी विवाद है। कोई उन्हें सोरों का बताता है, कोई राजापुर का और कोई अयोध्या का। ज्यादातर लोगों का झुकाव राजापुर की ओर है। उनकी

रचनाओं में अयोध्या, काशी, चित्रकूट आदि का वर्णन बहुत आता है। इन स्थानों पर उनके जीवन का पर्याप्त समय व्यतीत हुआ होगा। बालकाण्ड के एक दोहे में उन्होंने लिखा है कि मैंने रामकथा 'सूकरखेत' में अपने गुरु के मुँह से सुनी। इस सूकर खेत (शूकर क्षेत्र) को कुछ विद्वान 'सोरो' मानते हैं, कुछ गोंडा जिले का 'सूकर खेत'।

तुलसी के गुरु का नाम बाबा नरहरिदास था। माता पिता के द्वारा छोड़ दिए जाने पर इन्होंने ही तुलसी का पालन-पोषण किया और ज्ञान भक्ति की शिक्षा-दीक्षा दी। तुलसीदास का विवाह दीनबन्धु पाठक की कन्या रत्नावली से हुआ था। अत्यधिक आसक्ति के कारण जब एक बार इन्हें अपनी पत्नी से मधुर भर्त्सना—'लाज न आई आपको दौरे आएहु साथ' मिली तब इनकी भवधारा सहसा लौकिक विषयों से विमुख होकर प्रभु प्रेम की ओर उन्मुख हो गई।

गोस्वामी तुलसीदास रचित 12 ग्रंथ प्रमाणिक माने जाते हैं, दोहावली, कवित्तरामायण (कवितावली), गीतावली, रामचरितमानस, रामाज्ञाप्रश्न, विनयपत्रिका, रामललानहछू, पार्वतीमंगल, जानकीमंगल, बरवै रामायण, वैराग्यसंदीपिनी, श्रीकृष्णगीतावली। रामचरितमानस की रचना गोसाईं जी ने सं० 1631 अर्थात् 1574 ई० में प्रारंभ की जैसा कि उनकी इस अर्धाली से प्रकट है—'संवत सोरह सौ इकतीसा। करउँ कथा हरिपद धरि सीसा'।

तुलसीदास हिंदी के अत्यंत लोकप्रिय कवि हैं। उन्हें हिन्दी का जातीय कवि कहा जाता है। उन्होंने हिंदी क्षेत्र की मध्यकाल में प्रचलित दोनों काव्य भाषाओं — ब्रजभाषा और अवधी में समान अधिकार से रचना की। एक अन्य महत्वपूर्ण बात यह है कि उन्होंने मध्यकाल में व्यवहृत प्रायः सभी काव्यरूपों का उपयोग किया है। केवल तुलसीदास की ही रचनाओं को देखकर समझा जा सकता है कि मध्यकालीन हिन्दी साहित्य में किन काव्यरूपों में रचनाएँ होती थी। उन्होंने वीरगाथा काव्य की छप्पय पद्धति, विद्यापति और सूरदास की गीत पद्धति, गंग आदि कवियों की कवित्त-सवैया पद्धति, रहीम के समान दोहे और बरवै, जायसी की तरह चौपाई-दोहे के क्रम में प्रबन्ध काव्य रचे। पं० रामचंद्र शुक्ल के शब्दों में — "हिन्दी काव्य की सब प्रकार की रचनाशैली के ऊपर गोस्वामी जी ने अपना ऊँचा आसन प्रतिष्ठित किया है। यह उच्चता और किसी को प्राप्त नहीं।"

तुलसीदास ने अपने जीवन और अपने युग के विषय में हिंदी के किसी भी मध्यकालीन कवि से ज्यादा लिखा है। तुलसी राम के सगुण भक्त थे, लेकिन उनकी भक्ति में लोकोन्मुखता थी। वे राम के अनन्य भक्त थे। राम ही उनकी कविता के विषय हैं। नाना काव्यरूपों में उन्होंने राम का ही गुणगान किया है, किन्तु उनके राम परमब्रह्म होते हुए भी मनुज हैं और अपने देशकाल के आदर्शों से निर्मित हैं। वस्तुतः 'रामचरितमानस' के प्रारंभ में ही तुलसी ने कौशलपूर्वक राम के ब्रह्मत्व और मनुजत्व की सहस्थिति के विषय में पार्वती द्वारा शंकर से प्रश्न करा दिया है और 'रामचरितमानस' की पूरी कथा शंकर ने पार्वती को उस शंका के निवारणार्थ सुनाई है।

तुलसी ने वाल्मीकि और भवभूति के राम को पुनः प्रतिष्ठित नहीं किया। उन्होंने 'रामचरितमानस' में जिस राम को निर्मित किया, वे ब्रह्म होते हुए भी ऐतिहासिक स्थितियों के आधार पर व्यक्ति हैं। वे अपार मानवीय करुणा वाले हैं, गरीब निवाज हैं, दरिद्रता रूपी रावण का

नाश करने वाले और वाड्वाग्नि से भी भयंकर पेट की आग को बुझाने वाले हैं। तुलसी के राम, तुलसी के व्यक्तिगत संघर्ष और उनके युग की विषमता के आलोक में प्रकाशित हैं।

महान रचनाकारों की रचना में कोई-न-कोई द्वन्द्व होता है। रचना इस द्वन्द्व को पाटती है। दार्शनिक धरातल पर तुलसी के यहाँ यह द्वन्द्व राम के ब्रह्मत्व और मनुजत्व को लेकर है, जिसे पार्वती के प्रश्न के द्वारा प्रस्तुत किया गया है। लौकिक धरातल पर यह द्वन्द्व 'कलिकाल' और 'रामराज्य' में है। तुलसी की सभी रचनाएँ इस द्वन्द्व को चित्रित करने और उन्हें शमित करने का आद्यंत प्रयास है।

तुलसी ने कलियुग का वर्णन विशेष रूप से कवितावली और रामचरितमानस के उत्तरकाण्ड में किया है। दरिद्रता, रोग, अज्ञान, कामासक्ति आदि कलियुग के प्रभाव से है। तुलसी ने महामारी, अकाल, बेरोजगारी आदि का मार्मिक वर्णन किया है। कवितावली में 'लंका दहन' के प्रसंग में आग लगने का जो वर्णन है, यह अन्यत्र दुर्लभ है। चूँकि तुलसी ने अपने जीवन में अभावग्रस्तता और भूख का अनुभव किया था, इसलिए वे लोक में व्याप्त दरिद्रता का बहुत तीव्रता से अनुभव करके व्यथित हुए। इसीलिए उन्होंने राम को 'गरीब निवाज' और पेट की आग को बुझाने वाला कहा। इसीलिए उन्होंने दरिद्रता को जगत का सबसे पीड़ादायी दुख कहा।

तुलसीदास ने अपनी कविता में नारी जीवन के विविध चित्र खींचे हैं। उन्होंने नारी के प्रति अपार करुणा का भाव दिखाया है। मध्यकाल में शायद ही किसी अन्य कवि ने नारी की पराधीनता का उल्लेख इतने स्पष्ट तौर पर किया है 'कत विधि सृजी नारि जग माँही। पराधीन सपनेहुँ सुख नाही।' कैकेयी-मंथरा संवाद और शूपर्णखा प्रसंग यह प्रकट करते हैं कि वे इस देश की नारियों को अनेक रूपों में जानते थे।

तुलसी नारी निंदक ही नहीं, नारी सौन्दर्य से अत्यंत प्रभावित रचनाकार भी हैं, किन्तु वे रीतिकालीन रीतिबद्ध कवियों के समान नारी को केवल भोग्यरूप में ही चित्रित नहीं करते। उन्होंने सीता की जो वंदना की है, वह कन्या, माँ, और प्रिया तीनों रूपों में है— 'जनकसुता, जगजननि जानकी। अतिसय प्रिय करुणानिधान की।'

तुलसीदास ने तात्कालीन सामंतों की लोलुपता पर प्रहार किया है। प्रजा-द्रोही शासक तुलसी की रचनाओं में प्रायः उनके कोप-भाजन बनते हैं। उन्होंने अकाल, महामारी के साथ-साथ प्रजा से अधिक कर वसूलने की भी निंदा की। अपने समय की विभिन्न धार्मिक साधनाओं के पाखंड का उद्घाटन किया। तुलसी की दृष्टि में जो बुरा है, वह कलिकाल का प्रभाव है। यहाँ तक कि लोग यदि वर्णाश्रम का पालन नहीं कर रहे हैं तो वह भी कलिकाल का प्रभाव है। विषमताग्रस्त कलिकाल तुलसी का युग है, जिसमें वे दैहिक, दैविक, भौतिक तापों से रहित सर्वसुखद रामराज्य का स्वप्न बुनते हैं। रामराज्य तुलसी की आदर्श व्यवस्था है। इसके नायक और व्यवस्थापक तुलसी के राम हैं।

तुलसी आदर्श व्यवस्था का स्वप्न ही नहीं देखते, उसके अनुसार वे अपने पात्रों को गढ़ते भी हैं। वे राम को आदर्श राजा, पुत्र, भाई, पति, स्वामी, शिष्य, सीता को आदर्श पत्नी और हनुमान को आदर्श सेवक के रूप में चित्रित करते हैं। वस्तुतः रामोन्मुखता तुलसी का सबसे बड़ा आदर्श

और मूल्य है। राम से विमुख होकर सभी संबंध त्याज्य हैं— 'तजिए ताहि कोटि बैरी सम जद्यपि परम सनेही।'

'रामचरितमानस' या अन्य काव्यों में तुलसी दास ने कथा के मार्मिक स्थलों की पहचान करते हुए उन्हीं अंशों का अधिक विस्तार दिया जो मार्मिक है, अर्थात् जिनमें मनुष्य का मन देर तक रम या रस—मग्न हो सकता है, जैसे— पुष्पवाटिका प्रसंग, रामवन गमन, दशरथ मरण, भरत की ग्लानि, वन—मार्ग, लक्ष्मण—शक्ति। किसी स्थिति में पड़ा हुआ पात्र कैसी चेष्टा करेगा—इसे जानने और चित्रित करने में तुलसी अद्वितीय हैं। वे मानव मन के कुशल चितेरे हैं। चित्रकूट के राम और भरत मिलन के अवसर पर जो सभा जुड़ती है, उसमें राम, भरत, विश्वामित्र आदि के वक्तव्य मध्यकालीन शालीनता एवं वचन रचना का आदर्श प्रस्तुत करते हैं।

तुलसीदास जिस प्रकार ब्रजभाषा और अवधी दोनों भाषाओं पर समान अधिकार रखते हैं, उसी प्रकार प्रबंध और मुक्तक दोनों की रचना में भी कुशल हैं। वस्तुतः तुलसी ने गीतावली, कवितावली आदि में मुक्तकों में कथा कही है। डॉ० रामविलास शर्मा के अनुसार "रामचरितमानस में तुलसी की करुणा समाजोन्मुख है, विनयपत्रिका में वह आत्मोन्मुख है। व्यक्तिगत एकांतिक अनुभूतियों की अभिव्यक्ति की दृष्टि से विनयपत्रिका भक्तिकाव्य में अनूठी है।"

तुलसी की काव्य—कला उनकी नाद—योजना अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। वे वर्णानुप्रास के कवि हैं। उन्होंने बोली विशेषतः अवधी शब्दों में संस्कृत शब्दावली को ऐसा घुलाया है कि पूरी पदावली अवधी के ध्वनि प्रवाह में ढल जाती है। इसलिए वे हिन्दी के सर्वाधिक स्मरणीय कवि हैं। उनकी पंक्तियाँ हिन्दी भाषी जनता की बोली में धुल—मिलकर भाषा का मुहावरा बन गई है। कोई भी शब्दकार इससे बड़ी सिद्धि की कल्पना नहीं कर सकता है। तुलसी भक्त हैं, लेकिन उनके राम तक पहुँचाने वाला रास्ता इसी लोक से होकर जाता है। इसीलिए वे महान लोक संग्रही कवि हैं।

नाभादास

गोस्वामी तुलसीदास के समकालीन रामभक्तों में नाभादास का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। ये अग्रदास के शिष्य थे। नाभादास की रचना भक्तमाल का हिन्दी साहित्य में अभूतपूर्व ऐतिहासिक महत्त्व है। इसकी रचना नाभादास ने 1585 ई के आसपास की। इसकी टीका प्रियादास ने 1712 ई० में लिखी। इसमें 200 भक्तों के चरित 316 छप्पयों में वर्णित है। इसका उद्देश्य तो जनता में भक्ति का प्रचार था, किन्तु आधुनिक इतिहासकारों के लिए यह हिन्दी साहित्य के इतिहास का महत्त्वपूर्ण आधार ग्रंथ सिद्ध हुआ है। अवश्य ही इसमें भक्तों के चरित्र का वर्णन चमत्कार पूर्ण है, किन्तु उसे मध्यकालीन वर्णन शैली के रूप में ग्रहण करना उचित है। इन चमत्कारिक वर्णनों से तत्कालीन जनता की मानसिकता का पता लगता है। मध्यकाल में तथ्यपरकता पर कम ध्यान रहता था। वहाँ भाव प्रधान था, तथ्य गौण। फिर भी इस ग्रंथ से रामानंद, कबीर, तुलसी, सूर, मीरा, आदि के विषय में अनेक तथ्यों का भी पता चल जाता है। कबीर के विषय में वे कहते हैं—'*कबीर कानि राखी नही वर्णाश्रम षट्दरशनी।*' मीरा के बारे में लिखा—'*निरअंकुश अति निडर रसिक जस रसना गायो।*' इन्होंने रामकथा से संबंधित काव्य लिखा। इनके लिखे दो अष्टयाम मिलते हैं।

केशवदास

केशवदास का जन्म 1555ई. में और मृत्यु 1617ई. के आसपास हुई थी। ओरछा नरेश महाराजा रामसिंह के भाई इन्द्रजीत सिंह की सभा में इनका पांडित्य के कारण अत्यधिक सम्मान था। इनके द्वारा लिखे गए सात ग्रंथ मिलते हैं—कविप्रिया, रसिकप्रिया, रामचन्द्रिका, वीरसिंहचरित्र, विज्ञानगीता, रतनबावनी और जहाँगीरजसचन्द्रिका। इनमें से रामचन्द्रिका (1601ई.) हिन्दी रामकाव्य परंपरा के अन्तर्गत एक विशिष्ट कृति है। विद्वानों का मत है कि केशव ने वाल्मीकि रामायण और तुलसी के 'रामचरितमानस' से प्रेरणा ग्रहण करते हुए 'रामचन्द्रिका' की रचना की। केशव विद्वान और आचार्य तो थे—पर उन्हें कवि हृदय नहीं मिला था। केशव ने राम को मर्यादा — पुरुषोत्तम के रूप में नहीं, एक रीतिकालीन वैभव सम्पन्न सामंत के रूप में प्रस्तुत किया। अलंकार और द्वन्द्वकला के प्रदर्शनकारी चमत्कारवाद के कारण 'रामचन्द्रिका' आभाहीन होती गई। फिर केशव का समय तो भक्तिकाल है, पर प्रवृत्तियाँ रीतिकालीन हैं। पंडितई उनके लिए बोझ है जिसके नीचे उनका कवि दबकर रह गया है।

तुलसीदास ने रामभक्ति काव्य को इतना उत्कर्ष प्रदान किया कि आगे के कवियों के लिए नवीन सर्जनात्मक संभावनाएँ लगभग समाप्त हो गईं। यह भी सच है कि तुलसी के पश्चात राम भक्त कवि अधिक नहीं हुए। अग्नदास ने 'कुण्डलिया रामायण' और 'ध्यानमंजरी' में रामकथा का वर्णन किया है। प्राणचंद चौहान ने 'रामायण—महानाटक' तथा हृदयराम ने 'हनुमन्नाटक' का सृजन किया। लालदास ने 'अवध—विलास' लिखी।

कालांतर में कृष्णभक्तिधारा की मुधरोपासना का प्रभाव रामभक्ति साहित्य पर भी पड़ा। इस धारा में भी सखी भाव से राम की उपासना प्रारंभ हुई और तत्सुखी शाखा की स्थापना हुई, जिसमें भक्त अपने को सीता की सखी रूप में रखकर राम की भक्ति में प्रवृत्त होता है। जनकपुर के भक्तों ने सीता को प्रधानता देकर कुछ राम काव्य रचे। 1703 ई0 में रामप्रियाशरण दास ने सीतायन नामक काव्य रचा। 'तत्सुखी शाखा' के समान 'स्वसुखी' भी प्रवर्तित हुई।

रामभक्ति काव्य धारा की सामान्य विशेषताएँ —

सगुण रामभक्ति काव्य में सामाजिक मर्यादा के साथ लोक—चिंता, लोक मानस लोकरक्षा तथा लोकमंगल की भावना का प्राधान्य है। इस काव्यधारा के कवियों ने मर्यादा पुरुषोत्तम राम को अपना आराध्य माना है। राम ही उनकी कविता के विषय हैं। नाना काव्यरूपों में उन्होंने राम का ही गुणगान किया है किन्तु उनके राम परमब्रह्म होते हुए भी मनुज हैं और अपने देशकाल के आदर्शों से निर्मित हैं। वे अपार मानवीय करुणा वाले हैं, गरीब निवाज हैं, तथा दरिद्रता रूपी रावण का नाश करने वाले हैं। रामचरितमानस में तुलसीदास ने जिस आदर्श व्यवस्था के रूप में रामराज्य का स्वप्न बुनते हैं उसमें जाति, वर्ण, धर्म, संप्रदाय, अमीर—गरीब, अपनी पृथक सत्ता खो देते हैं।

रामभक्ति काव्य परंपरा ने लोक और शास्त्र दोनों के सामंजस्य से अपना पथ प्रशस्त किया। ऊपर से उनकी रचना स्वातः सुखाय, आत्म निवेदनात्मक, आत्मप्रबोध के लिए दिखाई देती हैं, लेकिन गहराई में हम पाते हैं कि लोक धर्म एवं लोकमंगल ही इस रचना कर्म की प्रेरणा भूमि हैं। ये सभी भक्त कवि भक्ति को लोक कल्याण के अहं के परिष्कार का माध्यम मानते हैं। भारत

के राममय होने का कारण भी यही है कि संत कवि तुलसीदास ने परंपरा के अमृत तत्त्वों को उसमें भर दिया है। रामभक्ति शाखा के कवियों ने अपने काव्य के लिए प्रबन्ध एवं मुक्तक दोनों शैलियों को अपनाया किन्तु इनका रुझान प्रबन्ध की ओर अधिक था। गेयपद और दोहा— चौपाई में निबद्ध कड़वक बद्धता उसके प्रधान रचना रूप है। इन कवियों ने अवधी एवं ब्रजभाषा दोनों में काव्य का सृजन किया। छप्पय, सवैया, कवित्त, भुजंगप्रयात, बरवै आदि रामकाव्य के बहुप्रयुक्त छंद हैं। तुलसीदास ऐसे भक्त कवि हैं, जिनके यहाँ मध्यकाल में प्रचलित प्रायः सभी काव्यरूप मिल जाते हैं। वास्तविकता यह है कि रामकथा समस्त भारतीय सौन्दर्य का प्रतिमान है।

कृष्ण भक्ति काव्यधारा

भारतीय परंपरा में राम और कृष्ण दो ऐसे विशिष्ट चरित्र हैं, जिसने संपूर्ण रचनाशीलता को गहरे स्तर पर प्रभावित किया। उन्हें विष्णु के अवतार के रूप में देखा गया और भारतीय समाज में उन्हें व्यापक स्वीकृति मिली। प्रायः माना जाता है कि राम त्रेता के अवतार है और कृष्ण द्वापर के। पर विचारणीय तथ्य यह है कि कृष्ण के व्यक्तित्व का विकास कुछ चरणों में हुआ और मध्यकाल तक आते-आते उनमें इतिहास के साथ गाथा का ऐसा संयोजन हो चुका था कि उन्हें 'सोलह कला अवतार' कहा गया। भारतीय रचनाशीलता ने कृष्ण के बालरूप से लेकर महाभारत तक के उनके व्यक्तित्व का उपयोग किया और वे ऐसे चरित्र हैं जो केवल साहित्य तक सीमित नहीं हैं, नृत्य, संगीत, चित्र, मूर्ति, लोक समग्र रचना—संसार में उनकी उल्लेखनीय उपस्थिति है। कृष्ण का चरित्र इतिहास के लंबे प्रवाह में रूपांतरित होता रहा है। महाभारत, भागवत, आलवार संत, जयदेव, विद्यापति, चण्डीदास, से लेकर अष्टछापि कवियों, सूरदास आदि तक कृष्णकथा का स्वरूप एक ही नहीं है। समय एवं कवि की अपनी दृष्टि कृष्ण को रूपायित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। इससे कृष्ण का बहुरंगी व्यक्तित्व निर्मित हुआ। मूलतः कृष्णभक्ति काव्य नारायण को नर की भूमिका में प्रस्तुत करता है और देवों के मानुषीकरण की प्रक्रिया को गति देता है।

भागवत् को भक्ति का प्रस्थान ग्रंथ स्वीकार किया जाता है जहाँ कृष्णलीला के उत्स मौजूद है, राधा की अनुपस्थिति अवश्य आश्चर्य में डालती है। लगभग इसी समय छठी—नौवी शताब्दी के बीच तमिल आलवार संतो के पदों का संकलन दिव्यप्रबंधक है, जहाँ कृष्ण भक्ति को पूरी रागमयता में प्रस्तुत किया गया। आलवार संतो की भक्ति भावनामय है, पर भागवत को कृष्ण के अवतारी रूप का बराबर ध्यान है और उसमें ईश्वरत्व के संकेत निरंतर मौजूद हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि इन दोनों रूपों के संयोजन से परवर्ती कृष्ण भक्तिकाव्य विकसित हुआ। एक ओर कृष्ण का मानव रूप है जो उनकी लीलाओं के माध्यम से व्यक्त हुआ, दूसरी ओर उनके देवत्व के संकेत भी हैं। आगे चलकर वैष्णवाचार्यों रामानुज, मध्य, निम्बार्क, विष्णुस्वामी ने भक्ति का प्रवृत्तिमार्गी दर्शन निर्मित किया एवं भक्ति के द्वार सभी जातियों के लिए खोले। इससे कृष्ण के चरित्र को व्यापकता एवं लोकप्रियता मिली।

कृष्ण भक्ति काव्य को दार्शनिक धरातल पर स्थापित करने के लिए निम्बार्क और वल्लभाचार्य का उल्लेख विशेष रूप से किया जाता है।

निम्बार्काचार्य (12-13वीं शताब्दी)

निम्बार्क देव कृष्ण के अथवा वासुदेव को सर्वोपरि परब्रह्म मानते हैं— सत्, चित और आनन्द से सम्पन्न। जो राधा भागवत में अनुपस्थित है वे निम्बार्क में महत्त्वपूर्ण स्थान पर है। इससे कृष्णभक्ति काव्य को नई गतिशीलता प्राप्त हुई। निम्बार्क संप्रदाय में यद्यपि प्रपत्ति अथवा शरणागति का भाव रामानुजाचार्य से साम्य रखता है, पर यहाँ आग्रह प्रेम भाव पर है। जिस राधा के लिए प्रायः ब्रह्मवैवर्त पुराण को आरंभिक प्रस्थान के रूप में स्वीकार किया जाता है, वह निम्बार्क संप्रदाय में विशिष्ट स्थान पर है। कृष्ण यदि सर्वेश्वर हैं तो राधा सर्वेश्वरी और इस प्रकार दोनों की समान स्थिति है। यहाँ राधा-कृष्ण की युगल मूर्ति की स्वीकृति है। इससे कृष्ण भक्तिकाव्य के लीला प्रसंग को नई भंगिमा प्राप्त हुई। प्रायः कहा जाता है कि कृष्णभक्तिकाव्य को नई दिशाओं में अग्रसर करने का श्रेय वल्लभाचार्य को है।

वल्लभाचार्य (15-16 वी शताब्दी)

वल्लभाचार्य ने कृष्णभक्ति धारा की दार्शनिक पीठिका तैयार की और देशाटन करके इस भक्ति का प्रचार किया। श्रीमद्भागवत के व्यापक प्रचार से माधुर्य भक्ति का जो चौड़ा रास्ता खुला उसे वल्लभाचार्य ने अपने दार्शनिक प्रतिपादन और प्रचार से उस रास्ते को सामान्य जन-सुलभ बनाया। वल्लभाचार्य का जन्म 1477 ई. में और देहांत 1530 ई. हुआ था। वल्लभ का दार्शनिक सिद्धांत शुद्धाद्वैत है जो शंकर के मायावाद का खंडन करता है। उन्होंने माया को ब्रह्म की शक्ति के रूप में निरूपित किया, पर यह भी प्रतिपादित किया कि ब्रह्म उसके आश्रित नहीं है। वल्लभ के लिए कृष्ण ही परब्रह्म है जो परमानंद रूप हैं— परम आनन्द के दाता। कल्पना की गई कि ब्रह्म कृष्ण का जो अविकृत रूप है, वह हर स्थिति में बना रहता है, वह शुद्ध अद्वैत है। रमण की इच्छा से, वे नर रूप ग्रहण करते हैं, जहाँ मुख्य आशय जीव के सुख और कल्याण है। इस प्रकार वल्लभ का भक्ति चिंतन जीव के मध्य एक घनिष्ठ संबंध स्थापित करता है, जहाँ ब्रह्म लीला भूमि में संचरित होकर भी शुद्ध है, और जीव उससे तदाकार होकर आनन्द की उपलब्धि करता है।

दर्शन में जो शुद्धाद्वैत है, वह व्यवहार अथवा साधना पक्ष में पुष्टिमार्ग कहा जाता है, 'पुष्टि' का अर्थ है ईश्वर के अनुग्रह, प्रसाद, अनुकम्पा अथवा कृपा से पुष्ट होने वाली भक्ति। यहाँ ईश्वर की कृपा ही प्राप्य है, वही परम सुख और परम आनंद है। कृष्ण भक्ति में गोपिकाएँ मोक्ष की कामना नहीं करती, कृष्ण का दर्शन ही उनकी लालसा है, वही उनका सुख है। कृष्ण के प्रति निश्छल भाव से संपूर्ण समर्पण पुष्टि मार्ग का आग्रह है। इस प्रकार वल्लभाचार्य रामानुज की शास्त्रीय प्रपत्ति और शरणागति भाव को एक नई दीप्ति प्रदान करते हैं। उन्होंने राधा की कल्पना कृष्ण की परम आह्लादिनी शक्ति के रूप में की है।

कृष्ण भक्ति काव्य मध्यकालीन सामंती समाज की उपज है पर उसका वैशिष्ट्य यह है कि वह उसे संवेदना के धरातल पर ललकारता भी है। सामंती देहवाद के स्थान पर वह प्रेममय रागभाव को स्वीकृति देता है, जिसका पर्यवसान भक्ति में होता है। जिस गोकुल-वृन्दावन में कृष्णलीला का सर्वोत्तम रचाया गया, वह बैकुंठ समान है। कृष्ण, जीव के सुख के लिए अवतरित होते हैं, और वे निर्विकार हैं। बाल लीलाओं के माध्यम से कृष्ण का निर्मल रूप उभरता है और

गोवर्धन लीला जैसे प्रसंगों से कृष्ण के व्यक्तित्व का लोकरक्षक रूप स्थापित होता है, क्योंकि वे इन्द्र को चुनौती देते हैं। कृष्ण का व्यक्तित्व खुली भूमि पर है, जिसमें प्रकृति की भी भूमिका है। यहाँ यथार्थ लोकसंस्कृति के माध्यम से आया है, इसलिए उसकी पहचान कठिन है।

कृष्ण भक्तिकाव्य शास्त्र के स्थान पर लोक का वरण करता है और कर्मकांड आदि की यहाँ कोई अनिवार्यता नहीं है। उपास्य-उपासक के मध्य सीधा संवाद इसकी विशेषता है। कृष्ण की जो लोक छवि लीलाओं के माध्यम से उभरती है, वही उन्हें पूज्य बनाती है। इसलिए कवियों का आग्रह सगुण भक्ति पर है। जिसका आधार कृष्ण की विभिन्न लीलाएँ हैं— बालजीवन, माखनलीला, वृन्दावनविहार, रास आदि। भ्रमरगीत प्रसंग में गोपिकाएँ ऊधौ द्वारा प्रतिपादित निर्गुण को अस्वीकार कर देती हैं। मर्यादा के स्थान पर यहाँ रागात्मकता का आग्रह है। कृष्णभक्तिकाव्य में अष्टछाप का विशेष उल्लेख किया जाता है।

अष्टछाप

वल्लभाचार्य ने विशिष्टाद्वैतवादी पुष्टिमार्ग की स्थापना की थी। आगे चलकर उनके पुत्र विट्ठलनाथ ने अष्टछाप कवियों की परिकल्पना की, जिन्हें कृष्णसखा भी कहा गया। इनमें चार वल्लभाचार्य के शिष्य हैं— सूरदास, कुंभनदास, परमानंददास और कृष्णदास। विट्ठलनाथ के शिष्य हैं— नंददास, गोविन्दस्वामी, छीतस्वामी और चतुर्भजदास। वल्लभ संप्रदाय में अष्टछाप कवियों का विशेष स्थान है। कहा जाता है कि जब गोवर्धन में श्रीनाथ की प्रतिष्ठा हो गई तब ये भक्तकवि अष्टछाप सेवा में संलग्न रहते थे— मंगलाचरण-श्रृंगार से लेकर सन्ध्या आरती और शयन तक। अष्टछाप के कवियों में सूरदास सर्वोपरि हैं जिन्हें भक्तिकाव्य में तुलसी के समकक्ष माना जाता है। तुलसीदास आचार्य रामचंद्र शुक्ल के प्रिय कवि हैं, पर उन्होंने भी स्वीकार किया है कि मार्ध्य भाव में 'सूरसागर' रस का आगार है और जहाँ तक वात्सल्य तथा श्रृंगार का प्रश्न है, सूर सर्वोपरि है। यहाँ हम इन अष्टछाप के कवियों और उनकी रचनाओं का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत करेंगे।

सूरदास

अष्टछाप के कवियों में सूरदास का स्थान सर्वोपरी है। इनका जन्म 1483 ई. के आसपास माना जाता है। इनकी मृत्यु अनुमानतः 1563 ई. के लगभग हुई। इनके बारे में भक्तमाल और चौरासी वैष्णवन की वार्ता से थोड़ी बहुत जानकारी मिल जाती है। 'आइने अकबरी' और 'मुंशियात अब्दुलफजल' में भी किसी संत सूरदास का उल्लेख है, किन्तु वे बनारस के कोई और सूरदास प्रतीत होते हैं, अनुश्रुति यह अवश्य है कि अकबर बादशाह सूरदास का यश सुनकर उनसे मिलने आए थे। 'भक्तमाल' में इनकी भक्ति, कविता एवं गुणों की प्रशंसा है तथा इनकी अंधता का उल्लेख है। 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' के अनुसार वे आगरा और मथुरा के बीच साधु या स्वामी के रूप में रहते थे। वे वल्लभाचार्य के दर्शन को गए और उनसे लीलागान का उपदेश पाकर कृष्ण-चरित्र विषयक पदों की रचना करने लगे। कालांतर में श्रीनाथ जी के मंदिर का निर्माण होने पर महाप्रभु वल्लभाचार्य ने इन्हें कीर्तन का कार्य सौंपा।

सूरदास के विषय में कहा जाता है कि वे जन्मांध थे। उन्होंने अपने को जन्म का आँधर कहा भी है। लेकिन सूर काव्य में प्रकृति और जीवन का जो सूक्ष्म सौंदर्य चित्रित है उससे यह नहीं

लगता कि वे जन्मांध थे। उनके विषय में ऐसी कहानी भी मिलती है कि तीव्र अंतर्द्वन्द्व के किसी क्षण में उन्होंने अपनी आँखें फोड़ ली थी। उचित यही मालूम पड़ता है कि वे जन्मांध नहीं थे। कालांतर में अपनी आँखों की ज्योति खो बैठे थे। सूरदास अब अंधों को कहते हैं। यह परंपरा सूर के अंधे होने से चली है। सूर का आशय 'शूर' से भी है। शूर और सती मध्यकालीन भक्त साधकों के आदर्श थे।

सूरदास के पहले ब्रजभाषा में काव्य रचने की परंपरा तो मिल जाती है, किन्तु भाषा की यह प्रौढ़ता, चलतापन और काव्य का यह उत्कर्ष नहीं मिलता। ऐसा लगता है कि सूर ब्रजभाषा काव्य के प्रवर्तक न हो, किसी परंपरा के चरमोत्कर्ष हों। आचार्य शुक्ल ने सूर को एक ओर जयदेव, चंडीदास और विद्यापति की परंपरा से जोड़ा है, दूसरी ओर लोकगीतों की परंपरा से। विद्यापति और सूरदास में जो निरीहता, तन्मयता मिलती है, अनुभूतियों को जिस प्रकार बाह्य प्रकृति के ताने बाने में बुना गया है, वह लोकगीतों की विशेषता है। लगता है कि लोकजीवन और साहित्य में राधा-कृष्ण की जो परंपरा पहले से चली आ रही थी, वह भक्तिकाल में प्रकट हुई। जयदेव का गीत गोविन्द, विद्यापति की पदावली, चंडीदास का काव्य और सूरदास का सूरसागर उसी परंपरा से जुड़े हैं।

सूरदास वात्सल्य और शृंगार के कवि हैं। भारतीय साहित्य क्या, संभवतः विश्व-साहित्य में कोई कवि वात्सल्य के क्षेत्र में उनके समकक्ष नहीं है। यह उनकी ऐसी विशेषता है कि केवल इसी के आधार पर वे साहित्य क्षेत्र में अत्यंत उच्च स्थान के अधिकारी माने जा सकते हैं। बाल-जीवन का पर्यवेक्षण एवं चित्रण महान सहृदय और मानवप्रेमी व्यक्ति ही कर सकता है। सूरदास ने वात्सल्य एवं शृंगार का वर्णन लोक सामान्य की भाव-भूमि पर किया है। मार्मिकता, मनोवैज्ञानिकता, स्वाभाविकता जीवन के यथार्थ में ही होते हैं। तुलसी की अपेक्षा सूर का विषय क्षेत्र सीमित अवश्य है, किन्तु सूर ने राधाकृष्ण की प्रेमलीला और कृष्ण की बाल लीला को प्रकृति और कर्म के विशद क्षेत्र का संदर्भ प्रदान कर दिया है। लोक साहित्य में यह सन्दर्भ सहज तौर पर जुड़ा दिखलाई देता है। सूर ने अपनी रचना में प्रकृति और जीवन के कर्म के क्षेत्रों को अचूक कौशल से उतार लिया है। लोक साहित्य की सहज जीवंतता जितनी सूर के साहित्य में मिलती है, हिंदी के किसी कवि में नहीं।

सूर की बाल-लीला वर्णन अपनी सहजता, मनोवैज्ञानिकता एवं स्वाभाविकता में अद्वितीय है। उनका काव्य बाल-चेष्टाओं के स्वाभाविक मनोहर चित्रों का भण्डार है। भक्ति ने भगवान का मानवीकरण कर दिया था। सूर के कृष्ण सामान्य गृहस्थ के बालक बन गए हैं, जो हठ करके आँगन में लोटने लगते हैं— 'काहे को आरि करत मेरे मोहन। यों तुम आँगन लेटी।' यशोदा दही मथ रही थी। कृष्ण हठ करने लगे। आकर आँचल पकड़ लिया। दही भूमि पर ढुलक गया। कृष्ण चलना सीख रहे हैं। पैर डगमगाते हैं। यशोदा हाथ पकड़कर उन्हें चलना सिखाती है— 'सिखवत चलन जशोदा मैया, अरबराय करि पानि गहावति डगमगात धरै पैयाँ।'

सूरदास के यहाँ राधा-कृष्ण का प्रेम परिचय से विकसित होता है। वह प्रकृति और कर्म-क्षेत्र की पृष्ठभूमि में पुष्पित-पल्लवित होता है। गोचारण जीवन में प्रकृति का पूरा अवकाश है।

सूर के राधा-कृष्ण की प्रेमलीला में प्रकृति, गाएँ और ग्वाल-बाल का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसी से उनकी प्रेमलीला जीवन से कहीं कटी अलग-थलग नहीं है। राधा और कृष्ण के प्रथम परिचय का जो चित्र सूर ने खींचा है, वह उनके लोक परिचय का प्रमाण है। साहित्य में प्रेम के सूत्रपात का ऐसा जीवंत चित्र बहुत दुर्लभ होगा -

बूझत श्याम कौन तू गोरी ।
 कहाँ रहति, काकी है बेटी, देखी नहीं कहूँ ब्रज-खोरी ।
 काहे को हम ब्रज- तन आवति, खेलति रहति आपनी पौरी ।
 सुनत रहति स्रवननि नंद ढोटा, करत फिरत माखन-दही चोरी ।
 सूरदास प्रभु रसिक सिरमनि, बातनि भुरइ राधिका भोरी ।

सूरदास द्वारा चित्रित राधा कृष्ण की प्रेमलीला में मध्यकालीन पराधीन नारी के सहज एवं स्वाधीन जीवन का स्वप्न जैसे साकार हो उठा है। यह स्वप्न सर्वाधिक साक्षात् रास-लीला वर्णन में होता है। सूरदास के समय अर्थात् 16 वीं शती में ब्रज में नारियों को वह स्वाधीनता नहीं थी, जिसका वर्णन सूरसागर में मिलता है। गोपियाँ लोक-लाज तजकर घर की चारदीवारी ही नहीं तोड़ती, वे कृष्ण की बाँसुरी सुनकर उस सामाजिक व्यवस्था को भी तोड़ती हैं, जो नारियों को पराधीन रखती है। जिस तरह तुलसी ने मध्यकालीन भारत में दैहिक, दैविक एवं भौतिक तापों से रहित रामराज्य का स्वप्न देखा है, वैसे ही सूर ने कृष्ण-कथा और रास-लीला के माध्यम से एक ऐसा सर्वसुखद स्वप्न देखा है जिसमें नारी और पुरुष दोनों समान तौर पर स्वाधीन हैं। रास-लीला सुख विभोर मानवता का सजीव गतिमय स्पंदित चित्र है। यहाँ मनुष्य सृष्टि के साथ ताल, लय, गति, प्राण, अनुभूति सभी तरह से एकमेक हो गया है। सूर का विरह-वर्णन भी अधिकांशतः स्वाभाविक पद्धति से चित्रित है। इनमें भी कृष्ण की स्मृति प्रायः दैनंदिन जीवन प्रसंगों में आती है। सूर के विरह वर्णन की मार्मिकता का आधार विरहावस्था में हृदय की नाना वृत्तियों का स्वाभाविक पद्यति पर चित्रण है। विरह वर्णन वहाँ उत्कृष्ट हैं, जहाँ गोपिकाओं की निरीह विवशता प्रकट होती है।

सूरदास के गेयपद मुक्तक हैं, किन्तु उनमें प्रबंधात्मकता का रस है। इसलिए उन्हें गेयपद के साथ-साथ 'लीला पद' भी कहा जा सकता है। वे ब्रजभाषा के प्रथम प्रतिष्ठित कवि हैं। उनकी भाषा में साहित्यिकता के साथ चलतापन एवं प्रवाह भी है। कहीं-कहीं वे 'गीतगोविन्द' के वर्णानुप्रास की शैली भी अपना लेते हैं। उनकी कविता में लोकसाहित्य की सरलता ही नहीं, काव्य परंपरा से सुपरिचित रूढ़ियों का उपयोग भी है। सूर की एक अन्य विशेषता नवीन प्रसंगों की उद्भावना है। उन्होंने कृष्ण-कथा, विशेषतः बाल-लीला एवं प्रेम-लीला के अंशों को नवीन मनोरंजक वृत्तों से भर दिया है जैसे- दान-लीला, मान-लीला, चीरहरण आदि। गेयपदों में सूरदास ने पूरे ब्रज की जो दारुण व्यथा उभारी है, वह व्यथा प्रभाव की दृष्टि से नाटकों और महाकाव्यों में मिलनेवाली करुणा के समान है।

कुंभनदास

वल्लभाचार्य के अष्टछापी शिष्यों में कुंभनदास प्रथम शिष्य थे। वे पूरे विरक्त और धन, मान, मर्यादा, की इच्छा से कोसों दूर भक्त के रूप में जाने जाते हैं। कहा जाता है कि वे गोवर्धन पर्वत से कुछ दूर 'जमुनावतौ' नामक गाँव में रहा करते थे। कुंभनदास गृहस्थ होते हुए भी कृष्ण भक्ति में लीन रहने वाले साधुवृत्ति के पुरुष थे। 1492 ई. में वल्लभाचार्य से दीक्षा लेने के बाद वे श्रीनाथ मंदिर में कीर्तन गान करने लगे। अष्टछाप के प्रसिद्ध कवि चतुर्भुजदास इनके ही सबसे छोटे पुत्र थे। एक बार अकबर बादशाह के बुलाने पर इन्हें फतेहपुर सीकरी जाना पड़ा, जहाँ इनका बड़ा सम्मान हुआ। पर इसका इन्हें बहुत बड़ा खेद ही रहा, जैसा कि इस पद से व्यंजित होता है

—

संतन को कहा सीकरी सों काम?

आवत जात पनहियाँ टूटी, बिसरि, गयो हरि नाम।।

जिनको मुख देखे दुख उपजत, तिनको करिबे परी सलाम।

कुंभनदास लाल गिरिधर बिनु और सबै बेकाम।।

पूरे भक्तिकाल में यह अपनी तरह का एक ही उदाहरण है। कुंभनदास द्वारा रचित किसी स्वतंत्र ग्रंथ का उल्लेख नहीं मिलता है। उनके कुछ पद रागकल्पद्रुम, रागरत्नाकर, वर्षोत्सव कीर्तन आदि में संकलित हैं। कुंभनदास की पद रचना में साहित्यिक सौष्टव उतना नहीं है जितना संगीत और लय का सौन्दर्य है। उनकी काव्य भाषा साधारण ब्रजभाषा है।

परमानंददास

अष्टछाप के कवियों में इनका विशेष स्थान था। अनुश्रुतियों के आधार पर इनका जन्म 1493 ई. माना जाता है एवं ये वल्लभाचार्य से 15 वर्ष छोटे थे। परमानंद का जन्म उज्जैन के कान्यकुब्ज ब्राह्मण परिवार में हुआ था। बचपन से ही काव्य रचना में इनकी प्रवृत्ति थी एवं संगीत का भी अच्छा ज्ञान था। ये अविवाहित थे और धनार्जन के लिए किसी तरह का व्यवसाय से नहीं जुड़े थे। उन्होंने अरैल (प्रयाग) में वल्लभाचार्य से दीक्षा ग्रहण की।

परमानंददास की रचनाओं का प्रकाशन परमानंदसागर, परमानंद के पद और वल्लभसंप्रदायी कीर्तन पद संग्रह के नाम से हुआ है। परमानंदसागर में 835 पद संकलित हैं। इनके पदों में सूरसागर की भाँति भागवत की कथा का वर्णन नहीं है, अपितु इन्होंने कृष्ण के मथुरा गमन से भँवरगीत तक के प्रसंग का ही मुख्यतः वर्णन किया है। परमानंद जी के सर्वाधिक पद बाललीला से संबंधित हैं। वियोग शृंगार के वर्णन में परमानंददास ने विशेष ख्याति प्राप्त की। भाषा की दृष्टि से इनकी ब्रजभाषा बेजोड़ है। चित्रात्मकता, आलंकारिता और प्रांजलता इनकी भाषा के विशेष गुण हैं, अष्टछाप के कवियों में काव्य सौन्दर्य की दृष्टि से सूरदास और नंददास के बाद इन्हीं का स्थान है। कृष्ण भक्ति से जुड़ी एक पद देखें —

जब ते प्रीति श्याम ते कीनी।

ता दिन से मेरे इन नैननि नँकहु नींद न लीनी।।

कृष्णदास

कृष्णदास जन्मना शुद्र होते हुए भी वल्लभाचार्य के कृपा-पात्र थे। अपनी बुद्धि एवं भक्ति के कारण ये श्रीनाथ जी के मंदिर में अधिकारी पद पर आसीन हुए। इनका जन्म गुजरात के राजनगर (अहमदाबाद) राज्य के चिलोतरा गाँव में 1496 ई. में हुआ था। गोस्वामी विट्ठलनाथ जी इनकी कुशाग्र बुद्धि और प्रतिभा के बड़े प्रशंसक थे। इनकी प्रबन्धपटुता के कारण इन्हें मंदिर में प्रबंध का दायित्व सौंपा गया था। कृष्णदास काव्य एवं संगीत के मर्मज्ञ होने के साथ सुकवि और गायक भी थे। इन्होंने बाल-लीला, राधाकृष्ण प्रेम-प्रसंग, रूप सौन्दर्य का बड़ा ही मनोहारी वर्णन किया है। मातृभाषा गुजराती होते हुए भी कृष्णदास ने न केवल ब्रजभाषा पर पूर्णाधिकार प्राप्त कर लिया था बल्कि उनके शृंगारपूर्ण पदों में ब्रजभाषा की प्रांजलता देखने योग्य है। ऐसा माना जाता है कि 1578 ई. में कुआँ बनवाते समय उसी में गिरकर इनकी मृत्यु हुई थी। इनका एक पद इस प्रकार है—

मो मन गिरिधर छवि पै अटक्यो ।

ललित त्रिभंग चाल पै चलि कै, चिबुक चारि गढ़ि ठटक्यो ।

नंददास

नंददास का जन्म 1533 ई. में उत्तरप्रदेश के सूकर क्षेत्र के रामपुर गाँव में हुआ था। ये सनाढ्य ब्राह्मण थे। दौ सो बावन वैष्णवन की वार्ता के अनुसार ये तुलसीदास के भाई थे, किन्तु अब यह बात प्रामाणिक नहीं मानी जाती। ये गोस्वामी विट्ठलनाथ के शिष्य थे। इनके काव्य के विषय में यह उक्ति प्रसिद्ध है—‘और कवि गढ़िया, नन्ददास जड़िया।’ इससे प्रकट होता है कि इनके काव्य का कलापक्ष महत्त्वपूर्ण है। इनकी प्रमुख कृतियों के नाम इस प्रकार हैं — ‘रासपंचाध्यायी’, ‘सिद्धांतपंचाध्यायी’, ‘भागवत दशम स्कंध’, ‘रुक्मिणी मंगल’, ‘रूपमंजरी’, ‘रसमंजरी दानलीला’, ‘मानलीला’, ‘भँवरगीत’ आदि। इनके यश का आधार ‘रासपंचाध्यायी’ है। यह भागवत के ‘रासपंचाध्यायी’ अंश पर आधारित है एवं रोला छंद में रचित है। कृष्ण की रासलीला का वर्णन इस काव्य में कोमल एवं स्वानुप्रासिक पदावली में किया गया है, जो संगीतात्मकता से युक्त है। सिद्धांत पंचाध्यायी भक्ति सिद्धांत का परिचायक ग्रंथ है और रसमंजरी नायिका भेद का। रूपमंजरी में इसी नाम की एक भक्त महिला का चरित्र वर्णित है। नंददास ने अनेक काव्यरूपों में रचना की है। वे काव्य शास्त्र से सुपरिचित कवि ज्ञात होते हैं। इनकी अन्य रचनाओं में ‘भँवरगीत’ दर्शन, विवेक, तर्क, भक्ति सभी दृष्टि से श्रेष्ठ कृति है। इनका एक पद द्रष्टव्य है —

कहन श्याम संदेश एक मै तुम पै आयो ।

कहन सभय संकेत कहूँ अवसर नहिं पायो ॥

सोचत ही मनमें रह्यो कब पाऊँ इक ठाउँ ।

कहि संदेश नंदलाल को, बहुरि मधुपुरी जाऊँ ॥

गोविन्द स्वामी

गोविन्दस्वामी का जन्म राजस्थान के भरतपुर क्षेत्र के आँतरी गाँव में सन् 1505 ई० में हुआ था। ये सनाढ्य ब्राह्मण थे एवं विरक्त की भाँति आकर ब्रजमण्डल के महावन में रहने लगे थे। स्वामी विट्ठलनाथ ने इन्हें पुष्टि मार्ग की दीक्षा प्रदान की। वार्ता ग्रंथों से विदित होता है कि ये शिक्षित थे और संगीतशास्त्र का भी इन्हें ज्ञान था। जनश्रुति है कि अकबर दरबार का प्रसिद्ध गायक तानसेन इनसे संगीत की शिक्षा ग्रहण की। इनका कोई स्वतंत्र ग्रंथ प्राप्त नहीं हुआ है। फुटकल दोहों का संकलन 'गोविन्दस्वामी के पद' के नाम से प्रसिद्ध है। इनके पुष्टि-संप्रदाय से संबंधित 252 पद ज्यादा चर्चित हैं। जिनमें राधा कृष्ण की शृंगार लीला का विशेष चित्रण है।

छीतस्वामी

छीतस्वामी का जन्म मथुरा के चतुर्वेदी ब्राह्मण परिवार में सन् 1515 ई. में हुआ था। प्रारम्भ में ये मथुरा के एक सुसम्पन्न पण्डा थे और मंत्री बीरबल ऐसे लोग इनके जजमान थे। पंडा होने के कारण ये बड़े अकखड़ और उदंड थे, बाद में गोस्वामी विट्ठलनाथ से दीक्षा ग्रहण कर परम शांत भक्त हो गए। काव्य और संगीत में इनकी विशेष रुचि थी। इनके पदों में शृंगार के अतिरिक्त ब्रज भूमि के प्रति प्रेमव्यंजना भी पाई जाती है। 'हे विधना तोसों अँचरा पसारि माँगी जनम जनम दीजौ चाही ब्रज बसिबो' पद इन्हीं का है। इनके पदों में मधुरता एवं सरसता का एक उदाहरण देखिए –

भोर भए नवकुंज सदन तें, आवत लाल गोवर्धनधारी ।

लटपट पाग मरगजी, माला, सिथिल अंग डगमग गति न्यारी ।।

इन्होंने जो स्फुट पद रचना की वही 'पदावली' के नाम से प्रसिद्ध है जिसमें लगभग 200 पद संकलित हैं।

चतुर्भुजदास

चतुर्भुजदास का जन्म 1530 ई. में गोवर्धन के समीप जमुनावतौ गाँव में हुआ था और ये अष्टछाप के प्रसिद्ध कवि कुंभनदास के सबसे छोटे पुत्र थे। इनका निधन 1585 ई. में हुआ। शैशव काल में ही चतुर्भुजदास काव्य रचना करने लगे थे। इनका कोई स्वतंत्र ग्रंथ उपलब्ध नहीं है, स्फुट पदों को ही चतुर्भुज कीर्तन संग्रह, कीर्तनावली और दानलीला शीर्षकों से प्रकाशित किया गया है।

अन्य कृष्ण भक्त कवि—

हितहरिवंश

राधावल्लभी संप्रदाय के प्रवर्तक गोसाईं हितहरिवंश का जन्म मथुरा के नजदीक बांदगाँव में सन् 1502 ई० को हुआ था। इनके पिता का नाम केशवदास मिश्र और माता का नाम तारावती था। कहते हैं कि हितहरिवंश पहले मध्वानुयायी गोपाल भट्ट के शिष्य थे। पीछे इन्हें स्वप्न में राधिका जी ने मंत्र दिया और इन्होंने अपना अलग संप्रदाय चलाया। ये संस्कृत के अच्छे विद्वान और भाषाकाव्य के अच्छे मर्मज्ञ थे। इन्होंने 1525 ई० में श्री राधावल्लभ की मूर्ति वृंदावन में स्थापित की।

‘हित चौरासी’ में इनकी कविताएँ संकलित है। जिसमें 84 पद हैं। इनके प्रसिद्ध शिष्यों में हरिराम व्यास, सेवकजी, ध्रुवदास आदि का नाम आता है। अपनी रचना की मधुरता के कारण हितहरिवंश जी को ‘श्रीकृष्ण की वंशी के अवतार’ कहे जाते हैं। हितहरिवंश द्वारा प्रवर्तित संप्रदाय में राधा की भक्ति की प्रधानता है। इसमें विधि-निषेध का व्याज है। हितहरिवंश ने राधा विषयक अत्यंत सरस रचनाएँ की हैं –

**ब्रज नव तरुनि कदंब मुकुटमनि स्यामा आजु बनी।
नख सिख लौं अंग माधुरी मोहे श्याम धनी।।**

मीराबाई

हिन्दी की श्रेष्ठ कवयित्री मीराबाई का जन्म 1516 ई. में मेड़तिया के राठौर रत्नसिंह के यहाँ हुआ। इनके व्यक्तित्व के इर्द-गिर्द अनेक किंवदंतियाँ गढ़ ली गई हैं। ये महाराणा साँगा की पुत्रवधु और महाराजा कुमार भोजराज की पत्नी थी। बचपन से ही मीरा कृष्ण भक्ति में लीन रहा करती थी। कहा जाता है कि विवाह के कुछ वर्षों के बाद जब इनके पति का देहांत हो गया तो ये साधु संतो के बीच भजन कीर्तन करने लगी। राजपरिवार ने इनका विरोध किया। खिन्न होकर इन्होंने राज्यकुल छोड़ दिया। इनकी मृत्यु 1546 ई. में द्वारिका में हुई।

मीरा को भक्त होने के लिए लोकलाज छोड़नी पड़ी और यही बात राणा को खलती थी। लोक-लाज तजने की बात मीरा की कविताओं में बार-बार आती है। मीराबाई की उपासना माधुर्य भाव की थी। वे अपने इष्टदेव श्री कृष्ण को अपना प्रियतम या पति मानती थी। मीरा ने अपने गिरधर नागर कृष्ण का जो रूप निर्मित किया है, वह अत्यंत मोहक है। मीरा के रूप चित्रण की यह भी विशेषता है कि वह प्रायः गत्वर होता है। गिरधर नागर को प्रायः सचेष्ट अंकित किया जाता है, या तो वे मुरली बजाते हैं या मंद-मंद मुसकाते हैं या मीरा की गली में प्रवेश करते हैं। मीरा नारी-सुलभ लज्जा के कारण उनसे सीधे बात कम करती है। उनके सामने न रहने पर यानि वियोगावस्था में वे उनसे वार्तालाप करती हैं, अनुनय विनय करती हैं। विरह मीरा के जीवन का भी सबसे बड़ा यथार्थ है और उनके काव्य का भी। मीरा के विरह की सच्चाई का लक्षण यह है कि वे विरह की ताप से मुक्त होना चाहती हैं। मीरा के यहाँ विरह-वेदना उनका यथार्थ है तो कृष्ण से मिलन उनका स्वप्न। मीरा के जीवन के यथार्थ की प्रतिनिधि पंक्ति हैं—‘अंसुवन जल सींचि-सींचि, प्रेम बेल बोई’ और उनके स्वप्न की प्रतिनिधि पंक्ति हैं ‘सावन माँ उमरयो म्हारो हियरा भणक सुण्या हरि आवण री’ मीरा के काव्य में मध्यकालीन नारी का जीवन बिम्बित है।

मीरा भक्त कवि है। उनकी व्याकुलता एवं वेदना उनकी कविता में निश्छल अभिव्यक्ति पाती है। मीरा की कविता में रूप-रस और ध्वनि के प्रभावशाली बिम्ब हैं। वे अपनी कविता में निहित वेदना को श्रोताओं और पाठकों के अनुभव के माध्यम से संप्रेषित करती है—

**जोगी मत जा मत जा मत जा, पाँई परूँ मैं तेरी चेरी हौं।।
प्रेम भगति को पैड़ों ही न्यारो हमकूँ गैल बता जा।
अगर चँदण की चिता रचाऊँ, अपने हाथ जला जा।
जल बल भई भस्म की ढेरी, अपने अंग लगा जा।**

मीरों कहै गिरधर नागर जोत में जोत मिला जा ।।

रसखान

रसखान के जन्म समय, शिक्षा-दीक्षा, कार्य व्यवसाय, निधन काल आदि के विषय में कोई प्रामाणिक साक्ष्य अभी तक उपलब्ध नहीं है। इनका वृत्तांत दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ता में मिलता है, और इससे प्रकट होता है कि ये लौकिक प्रेम से कृष्ण प्रेम की ओर उन्मुख हुए। इनकी प्रसिद्ध कृति 'प्रेमवाटिका' का रचनाकाल 1614 ई. है। कहते हैं कि वे गोसाईं विट्ठलनाथ के बड़े कृपापात्र शिष्य थे।

रसखान ने कृष्ण का लीलागान गेयपदों में नहीं, सवैयों में किया है। रसखान का सवैया छंद सिद्ध था। जितने सरस, सहज, प्रवाहमय सवैये रसखान के हैं उतने शायद ही किसी अन्य हिंदी कवि के हों। उनके सवैयों की मार्मिकता का बहुत बड़ा आधार दृश्यों और बाह्यांतर स्थितियों की योजना में है। वही योजना रसखान के सवैयों के ध्वनि-प्रवाह में है। ब्रजभाषा का ऐसा सहज प्रवाह अन्यत्र बहुत कम मिलता है। रसखान सूफियों का हृदय लेकर कृष्ण की लीला पर काव्य रचते हैं। उनमें उल्लास मादकता और उत्कटता तीनों का संयोग है। रसखान प्रेम भावना की अछूती स्थितियों की योजना करते हैं। रसखान की तीन रचनाएँ मिलती हैं। सुजान रसखान, प्रेमवाटिका और दानलीला। रसखान वास्तव में रस की खान हैं क्योंकि उनके काव्य में प्रेम, भक्ति और शृंगार तीनों की अजस्र धारा प्रवाहित है—

प्रान वही जु रहैं, रिझि वापर रूप वहीं लिहिं वाहि रिझाओ
सीस वही जिन वे परसे पद अंक वही जिन वा परसायो ।।
दूध वही जु दुहायो री वाही दही सु सही जो वही ढरकायो
और कहाँ लौँ कहाँ रसखानि री भाव वही जु वही मनभायो ।।

कृष्णभक्त कवियों की सुदीर्घ परंपरा है। स्वामी हरिदास (16वीं शती), हरिराम व्यास (16वीं शती), सुखदास (17वीं शती), लालचदास (16वीं शती), नरोत्तमदास (16वीं शती), रहीम (16वीं शती) आदि अन्य कृष्ण भक्त कवि हैं। इनमें नरोत्तमदास का सुदामा चरित्र अपनी मार्मिकता और सहज प्रवाह के कारण बहुत लोकप्रिय है। सुदामा की संतोषीवृत्ति, दीनता, कृष्ण के प्रति मैत्री भाव का बड़ा ही हृदयग्राही वर्णन कवि ने किया है। कृष्ण भक्त कवियों में रहीम का नाम भी उल्लेखनीय है। उन्होंने तुलसी के समान अवधी और ब्रजभाषा दोनों में अधिकारपूर्वक काव्य-रचना की है। रहीम के भक्ति और नीति के दोहे आज भी लोगों की जुबान पर हैं।

कृष्ण भक्ति काव्य की सामान्य विशेषताएँ —

कृष्ण भक्ति साहित्य के माध्यम से कृष्ण का व्यक्तित्व कई रूपों में हमारे सामने आता है। लीला पुरुषोत्तम से लेकर लोकदेवता के रूप में उनका महत्त्व जनमानस में व्याप्त है। कृष्ण भक्तिकाव्य के सन्दर्भ में श्रीमद्भागवत का विशेष महत्त्व है। भागवत में भक्ति को सर्वजनसुलभ बताया गया है। कृष्ण भक्ति के सन्दर्भ में दार्शनिक वाद-विवादों की अपेक्षा उसका लोकरूप अधिक प्रभावशाली होकर उभरा है। सूरदास के काव्य को पशुचारण काव्य की संज्ञा दी गई है। पशुचारण काव्य में जिन आदिम मनोभावों की अभिव्यक्ति होती है, उसी प्रकार की अभिव्यक्ति हमें सूर के काव्य में

मिलती है। कृष्ण भक्तिकाव्य की मधुरता ने मुसलमान कवियों को भी पर्याप्त संख्या में अपनी ओर आकृष्ट किया। कृष्ण भक्ति साहित्य प्रधानतः भगवान के लोकरंजक रूप को उजागर करता है।

कृष्ण भक्त कवियों में अनुभूति की तन्मयता थी, इसके कारण इस धारा के कवियों में संगीतात्मक चेतना का प्रसार हुआ। अधिकतर कृष्णभक्त कवियों के काव्य में लयात्मक सौन्दर्य मिलता है। इसी कारण कृष्णभक्त कवि जनता में लोकप्रिय हुए। कृष्णभक्त कवियों के प्रभाव से ब्रजभाषा का विकास अखिल भारतीय स्तर पर हुआ। कृष्णभक्त कवियों ने सांस्कृतिक आंदोलन के रूप में कृष्ण काव्य को प्रस्तावित किया था।

...

अभ्यास प्रश्न -

वस्तुनिष्ठ प्रश्न -

01. किस आलोचक ने भक्ति को 'धर्म की भावात्मक अनुभूति' माना है?
(क) डॉ० नगेन्द्र (ख) हजारी प्रसाद द्विवेदी (ग) रामचन्द्र शुक्ल (घ) डॉ० रामविलास शर्मा
02. आलवार मत के इष्ट देवता हैं—
(क) विष्णु (ख) राम (ग) शिव (घ) कृष्ण
03. 'भक्ति आंदोलन भारतीय चिन्ताधारा का स्वाभाविक विकास है', कथन है—
(क) रामचन्द्र शुक्ल (ख) डॉ० रामकुमार वर्मा (ग) डॉ० नगेन्द्र (घ) हजारी प्रसाद द्विवेदी
04. 'रामचरितमानस' की भाषा है—
(क) ब्रजभाषा (ख) अवधी (ग) सधुक्कड़ी (घ) भोजपुरी
05. इनमें से कौन कवि संत काव्यधारा से नहीं जुड़े है?
(क) रैदास (ख) मीरा (ग) कबीर (घ) सुंदरदास
06. हिंदी सूफ़ी काव्यधारा के प्रथम कवि किसे माना जाता है?
(क) कुतुबन (ख) जायसी (ग) मुल्ला दाउद (घ) उसमान
07. तुलसीदास के गुरु का नाम है—
(क) रामानंद (ख) बाबा नरहरि दास (ग) मलूकदास (घ) राघवानंद
08. अष्टछाप के कवि नहीं हैं—
(क) सूरदास (ख) गोविन्द स्वामी (ग) सूरदास (घ) नामदेव
09. कवितावली किसकी रचना है?
(क) सूरदास (ख) तुलसीदास (ग) नाभादास (घ) अग्रदास
10. 'बूझत श्याम कौन तू गोरी' पद है—
(क) मीराबाई (ख) रसखान (ग) सूरदास (घ) तुलसीदास

अतिलघूत्तरात्मक प्रश्न -

01. किस कवि को 'भाषा का डिक्टेटर' कहा गया है ?
02. कृष्ण भक्ति धारा की प्रधान भाषा कौन सी है?

03. सूफी काव्य धारा के किन्हीं दो कवियों एवं उनकी रचना बताएँ ?
04. भक्ति की धारा को दक्षिण से उत्तर की ओर लाने वाले संत का नाम लिखें?
05. संत काव्य धारा में सर्वप्रमुख महत्ता किसे दी गई है?

लघूत्तरात्मक प्रश्न –

01. संत काव्यधारा की चार विशेषताएँ बताएँ ?
02. पुष्टि मार्ग क्या है, इसके प्रवर्तक का नाम लिखिए।
03. जायसी के पद्मावत काव्य में किसका चित्रण किया गया है, उसकी दो विशेषता बताइए।
04. तुलसीदास के प्रमुख रचनाओं के नाम लिखें ?
05. कबीर के काव्य में 'निर्गुण' किस अर्थ में प्रयुक्त हुआ है ?

निबन्धात्मक प्रश्न –

01. अष्टछाप क्या है, इसके प्रमुख कवियों का परिचय दीजिए।
02. रामभक्ति शाखा की प्रमुख प्रवृत्तियों पर प्रकाश डालिए।
03. 'कबीर आधुनिक भावबोध के कवि है,' –समझाइए।
04. 'जायसी मूलतः प्रेम के कवि है' कथन पर प्रकाश डालिए।
05. भक्तिकाल के उदय के कारणों को बताइए।

...

3. रीतिकाल (सन् 1643 से 1843 ई० तक)

नामकरण

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने ग्रन्थ हिन्दी साहित्य का इतिहास में संवत् 1700 से संवत् 1900 (सन् 1643 से 1843) तक के काल को उत्तर मध्यकाल अथवा रीतिकाल नाम दिया है। जिसमें सामान्य रूप से शृंगार परक लक्षण ग्रन्थों की रचना हुई। नामकरण की दृष्टि से इस काल को विभिन्न विद्वानों ने अनेक नामों से पुकारा है। मिश्रबन्धु इसे अलंकृत काल मानते हैं, पं. विश्वनाथ प्रसाद शृंगारकाल संज्ञा देते हैं तो किसी ने इसे कला काल कहा है परन्तु इनमें से कोई प्रदत्त रीतिकाल के समान प्रचलित और स्वीकृत न हो सका। यद्यपि इसकाल में शृंगारपरक रचनाओं की ओर कवियों का ध्यान विशेष रहा है, परन्तु नीति, भक्ति और वीर भावना को आधार मानकर रचना करने वाले कवि भी कम नहीं थे। इसलिए इस काल को शृंगारकाल कहना अनुपयुक्त होगा।

इस काल को कलाकाल अथवा अलंकारकाल कहना भी एकांगी विचार होगा क्योंकि इस नाम को स्वीकार करने से इस काल की कविताओं का भाव पक्ष छूट जाता है। इस काल में रीति पद्धति पर लिखने की प्रवृत्ति का बोलबाला रहा। इसलिए इस काल को रीतिकाल कहना ही उपयुक्त होगा।

रीति शब्द की व्याख्या और रीतिकाव्य का लक्षण –

संस्कृत काव्यशास्त्र में 'रीति' शब्द काव्यांग विशेष के लिए रूढ़ है। जिसे काव्य की आत्मा बताकर आचार्य वामन ने तत्सम्बन्धी अलग सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया। आचार्य वामन के अनुसार गुण विशिष्ट रचना अर्थात् पद संघटना – पद्धति विशेष का नाम 'रीति' है। व्याकरण के अनुसार गति अर्थक 'रीड़' धातु के साथ 'वित्' प्रत्यय लगने से यह 'मार्ग' का वाचक ठहरता है। संस्कृत काव्य शास्त्र में रीति शब्द काव्यरचना के मार्ग अथवा पद्धति विशेष के अर्थ में प्रयुक्त हुआ, व्यवहार में लाया गया है। हिन्दी के मध्ययुगीन कवियों में भी अनेक ने काव्य रचना पद्धति को 'रीति' और उसके पर्याय 'पंथ' से ही अभिहित किया है।

1. जैसे कवि देव ने कहा— अपनी अपनी रीति के काव्य और कवि रीति
2. कवि भूषन ने कहा – सुकविन हूँ कि कछु कृपा समुझि कविन को पंथ (शिवराज भूषन)
3. कवि चिन्तामणि –रीति सुभाषा कवित्त की बरनत बुध अनुसार (कवि कुल कल्पतरु)

हिन्दी के आधुनिक इतिहासकारों और आलोचकों ने भी रीति शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में किया है।

मिश्र बन्धुओं के अनुसार आचार्य लोग तो कविता करने की रीति सिखलाते हैं, मानो वे संसार से कहते हैं कि अमुक-अमुक विषयों के वर्णन में अमुक के कथन उपयोगी हैं और अमुक प्रकार के अनुपयोगी। (मिश्र बन्धु विनोद भाग-2)

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि 'रीति काव्य' वह काव्य है जिसकी रचना विशिष्ट पद्धति अथवा नियमों को ध्यान में रखकर की गई हो। हिन्दी साहित्य के उत्तर मध्य काल में अधिकांश

कवियों ने संस्कृत काव्य— शास्त्र की बँधी हुई परिपाटी पर अपने काव्य की रचना की। इसलिए आज उनके काव्य को रीतिकाव्य और उनको रीतिकवि कहते हैं।

रीतिकालीन परिस्थितियाँ —

साहित्य के निर्माण में उस युग के वातावरण का विशेष योगदान होता है।

अतः किसी भी काल की साहित्यिक गतिविधियों को यथार्थ रूप से समझने के लिए उस समय की राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, कलात्मक और साहित्यिक परिस्थितियों का अध्ययन आवश्यक होता है। इस कारण यदि रीतिकाल का अध्ययन करना है तो उसकी प्रेरक परिस्थितियों का अध्ययन भी आवश्यक है।

तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियाँ :- हिन्दी साहित्य में रीतिकाल संवत् 1700 से 1900 तक माना जाता है। इस समय में निरंकुश राजतन्त्र का बोलबाला था। अकबर के बाद जहाँगीर ने राज्य के सम्बन्ध में कोई विशेष योगदान नहीं किया। उसकी विलासिता और असन्तुलित लालसा उसके उत्तराधिकारियों को विरासत में मिली।

केन्द्र में शक्तिशाली सत्ता विराजमान थी। राजा और सामन्त उनके अधीन थे। उत्तर भारत के अधिकांश राजा स्वदेश रक्षण हेतु नहीं लड़ते थे, वे तो अपने स्वामियों के लिए अथवा अपने झूठे अहंकार के लिए लड़ते थे। शाहजहाँ का काव्य की ओर विशेष झुकाव था। राजाओं में प्रदर्शन प्रवृत्ति अधिक थी।

शाहजहाँ की मृत्यु के पश्चात् सत्ता के लिए संघर्ष प्रारम्भ हो गया। औरंगजेब अपने ही भाइयों का कत्ल कर बादशाह बना। उसकी नीति असहिष्णुता की थी। हिन्दुओं में जातीय स्वाभिमान जगने लगा। छत्रपति शिवाजी और छत्रसाल जैसे वीर राजाओं ने मुगल सत्ता से लोहा लेना प्रारम्भ किया। पंजाब में गुरु गोविन्द सिंह ने धर्म रक्षण के लिए खालसा पंथ की स्थापना कर मुगलिया सत्ता से टकराना प्रारम्भ कर दिया था।

औरंगजेब की मृत्यु पश्चात् केन्द्र की राजसत्ता ढीली पड़नी शुरू हो गई थी। उसके साम्राज्य का पतन प्रारम्भ हो गया था। अनेक देशी राजा स्वतन्त्र आचरण करने लगे थे। अंग्रेजों ने धीरे-धीरे भारत पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया था। राजमहल आनन्द-प्रमोद और भोग-विलास के केन्द्र बन गए थे। रीति कालीन काव्य पर इसका असर पड़ना स्वाभाविक था। इसलिए इस काल के साहित्य पर भोग विलास और तज्जन्य सौन्दर्य बोध का गहरा प्रभाव पड़ा। भूषण जैसे कुछ ही कवि थे जिन्होंने वीर रस की रचना कर जनता के स्वाभिमान को जगाने की चेष्टा की थी।

सामाजिक परिस्थिति —

बादशाहों और राजाओं की विलास लिप्सा और वैभव प्रियता का सामन्तीय जीवन पर भी पर्याप्त प्रभाव पड़ा। अमीर-उमराव और सामन्त जनता का शोषण करते थे। उनसे लिए कर से भोग विलास के साधन एकत्र करते थे। राजाओं में ही नहीं सामन्तों और अभिजात्य वर्ग में बहुपत्नीत्व का चलन था। नारी के प्रति सम्मान का भाव कम हो गया था। गरीब जनता अकाल-महामारियों से तो त्रस्त थी ही, सामन्तों के शोषण की चक्की में भी पिस रही थी।

अंधविश्वास बढ़ रहे थे। राष्ट्रीयता की भावना लुप्त प्रायः हो गई थी। इसलिए रीतिकाल के लेखक में भी समाज और राष्ट्र के प्रति लगाव के दृष्टिकोण का भाव अत्यन्त न्यून मात्रा में ही दिखाई देता है।

धार्मिक परिस्थितियाँ –

इस युग में सभ्यता और संस्कृति का ह्रास हो रहा था। नैतिकता का अभाव हो रहा था। अन्धविश्वास, रूढ़ियाँ और बाह्याडम्बर ही धर्म कहलाते थे। राधा और कृष्ण की भक्ति की सात्विकता का स्थान स्थूल ऐंद्रियकता और शृंगारिकता ने ले लिया था। भक्तिकाल के राधा कृष्ण के प्रेम का आध्यात्मिक तत्व लुप्त प्रायः हो गया था।

कलात्मक एवं साहित्यिक परिस्थितियाँ –

मुगलकाल के दौरान शिल्पकला, चित्रकला और संगीत कला ने पर्याप्त प्रगति की थी। परन्तु जीवन के अन्य क्षेत्र के समान कलाक्षेत्र में भी प्रदर्शन की ही प्रमुखता रही। इन सभी कलाओं में उस युग की सभी प्रवृत्तियाँ दिखाई देती हैं। परम्पराबद्ध शैली, अलंकार की अतिशयता, चमत्कारवृत्ति रोमानी वातावरण की सृष्टि करना, कला और साहित्य सभी क्षेत्रों में दृष्टिगोचर हो रही थी। वास्तव में रीतिकाल के कवि, चित्रकार, कलाकार और संगीतज्ञ सभी आश्रयदाताओं की कृपा पर पल रहे थे और आश्रयदाता के अलंकार प्रिय और विलासी होने के कारण उनकी रुचि और प्रसन्नता के लिए ही कवि-कलाकार और संगीतज्ञ स्वतन्त्र दृष्टि से सृजन नहीं कर पा रहे थे। इसलिए इनमें भी चमत्कार प्रदर्शन, शृंगारपरकता और पाण्डित्य प्रदर्शन की प्रवृत्ति दिखाई देती है। तथापि इस काल को कला और साहित्य की दृष्टि से समृद्धकाल कह सकते हैं।

रीतिकाव्य की विशेषताएँ –

साहित्यकार और उसके साहित्य पर काल विशेष की परिस्थितियों का प्रभाव पड़ता है। रीतिकाल में भी हिन्दी साहित्य पर तत्कालीन परिस्थितियों का गहरा प्रभाव पड़ा है। परिस्थिति से प्रेरित और पुष्ट होकर जो प्रवृत्तियाँ सामने आईं, उनमें आचार्यत्व, शृंगारिकता, आलंकारिता आदि मुख्य हैं। रीति कालीन साहित्य की सृष्टि सामन्तीय वातावरण में हुई। तत्कालीन राजदरबारी कवियों से 'स्वान्तः सुखाय' काव्य रचना की अपेक्षा नहीं की जा सकती। स्वामी को प्रसन्न करने के लिए प्रदर्शन प्रवृत्ति अधिक रही। शृंगाररस की प्रधानता में प्रेम का स्थान रसिकता ने ले लिया।

1. शृंगारिकता की भावना :- रीतिकालीन काव्य में शृंगारिकता की भावना की प्रधानता है। शृंगारिकता की प्रवृत्ति रीतिकवियों की कविता का प्राण है। इस समय का भौतिक वातावरण भी शृंगारिक मनोवृत्ति के सर्वथा अनुकूल था। शृंगारपरक रचनाएँ भक्ति काल में भी होने लगी थी। कृष्णभक्ति काव्य और रामभक्ति काव्य में भी रसिक भाव की प्रतिष्ठा हो चुकी थी परन्तु रीति काल में तो कवियों ने उन्मुक्त भाव से शृंगार सरिता में गोते लगाए हैं। शृंगार वर्णन रीतिकाव्य की प्रमुख

प्रवृत्ति रही है नायक-नायिका भेद, नख-शिख वर्णन, अलंकार आदि के लक्षण प्रस्तुत करते समय भी शृंगार का ही प्रतिपादन किया है।

2. आचार्यत्व का प्रदर्शन – इस काल के कवियों में शृंगारिकता के बाद जो प्रमुख प्रवृत्ति दिखाई देती है वह है आचार्यत्व का प्रदर्शन। रीतिकाल में कविकर्म और आचार्य कर्म एक साथ चलते रहे। इस काल के लगभग सभी कवियों ने लक्षणग्रन्थों का निर्माण किया है। यद्यपि अधिकांश कवियों ने लक्षणग्रन्थों में नाम पर संस्कृत साहित्य शास्त्र का अनुवाद सा ही किया है। कवि कर्म के लिए भावुक हृदय और कोमल भावना का होना आवश्यक है और आचार्य कर्म के लिए बुद्धि की परिपक्वता और विवेचन शक्ति की आवश्यकता रहती है। कह सकते हैं कि लक्षणग्रन्थों का निर्माण कर परिपाटी का पालन ही कवि करते रहे, आचार्य कर्म में सफल नहीं हो पाए।

3. अलंकारिकता :- वह युग ही प्रदर्शन, चमत्कार और रसिकता प्रधान था। इसलिए कवियों ने भी अपनी कविता में उक्तिचमत्कार द्वारा अपने आश्रयदाताओं और श्रोताओं को रिझाना था। वातावरण ही ऐसा था कि अलंकार शास्त्र के ज्ञान के अभाव में उस समय के कवि को आदर मिलना कठिन था। इसलिए कवि को कविता कामनी को अलंकार के साँचे में ढालना आवश्यक था।

उस काल में शब्दालंकारों में यमक, अनुप्रास और श्लेष का प्रयोग कविता में चमत्कार लाने के लिए खूब हुआ। बिहारी में तो यह प्रवृत्ति सर्वाधिक पाई जाती है। विरोधाभास और उत्प्रेक्षा जैसे अलंकारों का सफल प्रयोग तो रीतिमुक्त कवि घनानन्द ने भी किया है।

4. ब्रजभाषा की प्रधानता – प्रकृति से मधुर और सरस होने के कारण रीतिकाल के काव्य में ब्रजभाषा की प्रधानता दिखाई देती है। ब्रजभाषा का सहज, सरल, कोमल और परिष्कृत रूप रीतिकाव्य में देखने को मिलता है। भारतीय साहित्य में संस्कृत के बाद ब्रजभाषा का स्थान प्रमुख है। प्रकृति से मधुर होने के कारण और कोमल रसों की अभिव्यक्ति के लिए अधिक उपयुक्त होने के कारण ब्रजभाषा का प्रयोग अधिक हुआ है। इस काल में कवियों ने ब्रजभाषा के साथ अवधी, बुन्देलखंडी और उर्दू-फारसी के शब्दों का प्रयोग भी पर्याप्त मात्रा में किया है। ब्रजभाषा के माधुर्य का ही परिणाम था कि उस काल के मुसलमान कवियों ने भी इसी भाषा का प्रयोग अपने काव्य में किया है।

5. वीरकाव्य – रीतिकाल में यद्यपि शृंगारिकता की प्रवृत्ति ही कवियों में अधिक थी तथापि गौणरूप से वीरतापरक रचनाएँ भी इस काल में रची गईं। विशेष रूप से औरंगजेब की धर्मान्धता, कट्टरता और असहिष्णुता ने हिन्दुओं की सुषुप्त वीरता को जगाने का कार्य किया। परिणाम स्वरूप अनेक राजा प्रतिकार के लिए खड़े हो गये और अनेक कवियों ने वीर रस पूर्ण काव्य रचना कर लोगों में उत्साह भरने का कार्य किया। इनमें भूषण, सूदन, पद्माकर प्रमुख हैं।

6. भक्ति और नीति– रीति काव्य में जहाँ शृंगार की प्रधानता, आचार्यत्व का प्रदर्शन और चमत्कार हेतु अलंकारों के प्रति मोह रहा वहीं नीति और भक्ति के पद भी रचे गए। वैसे लगभग प्रत्येक कवि ने मंगलाचरणों में अथवा ग्रन्थों की परिसमाप्ति पर आशीर्वचनों में भक्ति सम्बन्धी पद रचे हैं। इसकाल के कवि ने भक्ति सम्बन्धी पद लिखते समय भी शृंगारिकता का सहारा ही अधिक

लिया है। कवियों का ध्येय होता था आश्रयदाताओं को रिझाना। यदि आश्रयदाता कविता से प्रसन्न नहीं हुआ तो कविता के बहाने राधा-कृष्ण का सुमरिन हो जाता था।

रीझि है सुकवि तो जानो कविताई, न तो राधिका सुमिरन को बहानो है।

नीति सम्बन्धी पद शतक ग्रन्थों में पर्याप्त मिलते हैं। वैसे उस युग के कवियों की नीति और भक्ति की प्रवृत्ति के विषय में डा. नगेन्द्र कहते हैं “भक्ति यदि इन कवियों के आकुल मन की शरण भूमि थी तो नीति संघर्षमय दरबारी जीवन के घात-प्रतिघातों से उत्पन्न मानसिक द्वन्द्व के विरेचन के परिणाम स्वरूप शान्ति का आधार थी।” इसलिए उस युग के नीति सम्बन्धी अन्योक्तिपरक छन्दों में कवियों के वैयक्तिक अनुभवों की छाप दिखाई देती है।

रीतिकालीन काव्य में प्रकृति निरूपण भी मिलता है। ऋतु वर्णन के साथ प्रकृति चित्रण उद्दीपक के रूप में अधिक दिखाई देता है। संयोग और वियोग दोनों ही स्थितियों में प्रकृति को महत्त्व दिया है। इस युग में मुक्तक काव्य अधिक लिखा गया है क्योंकि कवि राजदरबारी वातावरण से घिरा हुआ था। उसे चमत्कार पैदा कर वाह-वाही लूटनी थी इसलिए मुक्तक काव्य शैली उसे अधिक उपयुक्त जान पड़ी। कवित्त, सवैया, दोहा में रचित रीतिकाव्य मुक्तक शैली का श्रेष्ठ उदाहरण है। रीतिकाल में कवियों की रुचि नारी चित्रण में अधिक रही है। इस काल में कवि को नारी का मातृरूप या देवी रूप ध्यान नहीं रहा। इन्होंने नारी का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन किया है।

रीतिकाल की प्रमुख धाराएँ –

रीति कालीन कवियों को स्पष्ट रूप से दो भागों में रखा जा सकता है। रीतिबद्ध और रीति मुक्त। जिन कवियों ने काव्यरीतियों का पालन करते हुए काव्य रचना की वे रीतिबद्ध कवि कहलाए। इनमें चिन्तामणि, मतिराम, राजा जसवन्तसिंह, भूषण, पद्माकर, श्रीपति, सेनापति आदि प्रमुख हैं। रीतिकाल की दूसरी धारा रीतिमुक्त कवियों की है इन कवियों ने रीतिबद्ध कवियों की तरह ना तो लक्षण ग्रन्थ लिखे और ना रीति में बँधकर काव्य रचना की। जहाँ रीतिबद्ध कवियों ने चमत्कार प्रदर्शन के लिए बुद्धि प्रेरित कविता की, वहीं रीतिमुक्त कवियों में भावपक्ष की प्रधानता रही है। घनानन्द ने कहा भी है— ‘लोग हैं लागि कवित्त बनावत, मोहितो मेरे कवित्त बनावत।’ इस धारा के कवियों में घनानन्द, बोधा, ठाकुर और आलम विशेष प्रसिद्ध हैं। विद्वानों ने रीतिकाल में कवियों की एक और धारा का उल्लेख किया है जिसे रीतिसिद्ध धारा कहा। इन कवियों ने लक्ष्य-लक्षण परम्परा का पालन नहीं किया।

किन्तु इनकी कविताओं में रीति परिपाटी की सभी विशेषताएँ मिलती हैं। रीतिसिद्ध कवियों में बिहारी सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं। वैसे रीतिसिद्ध धारा को रीति बद्धधारा का ही अंग माना जाना चाहिए।

रीतिबद्ध धारा के प्रमुख कवि –

चिन्तामणि त्रिपाठी (सन् 1609-1685)

चिन्तामणि का जन्म तिकवाँपुर कानपुर जिले के अन्तर्गत माना जाता है। इनके पिता का नाम रत्नाकर त्रिपाठी था। भूषण, मतिराम और जटाशंकर इनके भाई थे। इनका जन्म काल संवत् 1666 के लगभग माना जाता है। ये आचार्य कवि थे। इनका कविता काल संवत् 1700 के आस पास ठहरता है। इन्होंने 'कविकुलकल्पतरु' ग्रन्थ संवत् 1707 में लिखा था। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार "हिन्दी रीतिग्रन्थों की अखण्ड परम्परा चिन्तामणि त्रिपाठी से चली"। इनके प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं— काव्य विवेक, कविकुलकल्पतरु, काव्यप्रकाश, रस मंजरी, छन्द विचार, पिंगल और रामायण।

ये शाहजी भोंसले, शाहजहाँ और दाराशिकोह के आश्रय में रहे। इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ 'कविकुलकल्पतरु' विशेष चर्चित रहा है इन्होंने काव्य का स्वरूप, गुण, अलंकार, दोष, शब्द शक्ति, ध्वनि, रस, नायक-नायिका भेद आदि काव्यांगों का क्रमशः निरूपण किया है। इस ग्रन्थ के निर्माण में चिन्तामणि ने मम्मट, विश्वनाथ, धनंजय, भानुमिश्र आदि के ग्रन्थों से सहायता ली है। काव्य के सभी अंगों के निरूपण का मार्ग सर्वप्रथम हिन्दी में इन्होंने ही चलाया। इनकी ब्रजभाषा विशुद्ध थी। विषय-वर्णन में भी सिद्धहस्त थे। ये एक उत्कृष्ट कवि थे। इनकी रचना का सुन्दर उदाहरण देखिए —

येई उधारत हैं तिन्हें जे परे मोह-महोदधि के जल फेरे।
जे इनको पल ध्यान धरै मन, ते न परै कबहुँ जम-घेरे ॥
राजै रमा-रमनी-उपधान अभै बरदान रहै जन नेरे।
हैं बलभार उदण्ड भरे हरि के भुजदण्ड सहायक मेरे ॥

मतिराम (17 वीं शती)

मतिराम को कवि चिन्तामणि और भूषण का भाई माना जाता है। इनका जन्म तिकवाँपुर (कानपुर) में संवत् 1674 के लगभग माना जाता है। इनकी मृत्यु संवत् 1773 के आस-पास हुई। बूंदी नरेश भावसिंह के आश्रय में बहुत समय तक रहे। उनके ही आश्रय में इन्होंने 'ललितललाम' नामक अलंकार ग्रन्थ की रचना की थी। रीतिकाल के कवियों में मतिराम का नाम बहुत आदर के साथ लिया जाता है। मिश्र बन्धुओं ने तो इनको हिन्दी के नवरत्नों में स्थान दिया है। इनके प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं— रसरज, ललितललाम, अलंकारपंचाशिका, छन्दसार, साहित्यसार और लक्षणशृंगार। बिहारी की तरह ही इन्होंने 'मतिराम सतसई' की रचना की। इनके दोहों की सरसता भी बिहारी के दोहों के समान है। मतिराम की रचनाओं में ना तो शब्दाडम्बर है और ना भावों और भाषा की कृत्रिमता। 'रसरज' और 'ललितललाम' मतिराम के अतिप्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। इन्होंने अपनी कविता में राधा और कृष्ण का अलौकिक प्रेम, जग के व्यवहार में किस प्रकार उपयोगी है यह भली प्रकार स्पष्ट किया है। रीति कालीन कवियों में मतिराम की सी चलती भाषा और सरस व्यंजना पद्माकर को छोड़कर अन्यत्र दुर्लभ है। इनके 'रसरज' में शृंगार रस का वर्णन है परन्तु प्रधानतः इसमें नायिका भेद का विस्तार है। मतिराम के अनुसार नायिका वह है जिसको देख कर चित्त में भावों की उत्पत्ति हो। इनकी कविता का उदाहरण द्रष्टव्य है—

कुन्दन को रंग फीको लगै, झलकै अतिअंगनि चारु गोराई।

ऑखिन में अलसानि, चितौनि में मंजु बिलासन की सरसाई ॥

को बिनु मोल बिकात नहीं 'मतिराम' लहे मुसकानि-मिठाई ।

ज्यों-ज्यों निहारिये नेरे हवै नैननि त्यों-त्यों खरी निकरै सी निकाई ॥

मतिराम की रचना में भाषा के माधुर्यगुण के अतिरिक्त अर्थ गाम्भीर्य का भी विशेष गुण है। इनकी कविता में आचार्यत्व के साथ-साथ भाव सौन्दर्य और सरसता भी पर्याप्त है।

भूषण (सन् 1613-1715 ई.)

वीररस के प्रसिद्ध कवि भूषण का जन्म कानपुर के समीप तिकवाँपुर नामक स्थान पर संवत् 1670 में हुआ। इनके पिता का नाम रत्नाकर त्रिपाठी था। चित्रकूट के राजा रुद्रसाह सोलंकी ने इनको 'भूषण' उपाधि से सम्मानित किया और इस उपनाम से ये इतने प्रसिद्ध हुए कि इनका वास्तविक नाम किसी को अब तक पता नहीं है। जनश्रुति के अनुसार ये रीतिकाल के प्रसिद्ध कवि चिन्तामणि, मतिराम और जटाशंकर के भाई माने जाते हैं। इनकी मृत्यु संवत् 1772 में हुई।

ये कई राजाओं के दरबार में रहे किन्तु इनके वीर-काव्य के नायक हिन्दवी साम्राज्य संस्थापक वीरशिरोमणि शिवाजी रहे हैं। ये अनेक राजाओं के आश्रय में रहे किन्तु महाराज छत्रसाल और शिवाजी इनको अतिप्रिय रहे। उस समय औरंगजेब की कट्टरता और हिन्दुओं के प्रति उसके विद्वेष ने विरोध की ज्वाला को प्रचण्ड कर दिया था। मुगल शासन से परित्राण पाना वीरों का ध्येय हो गया था। पंजाब में गुरुगोविन्दसिंह चिड़ियों से बाज लड़ाने का उद्घोष कर रहे थे। बुन्देलखण्ड में वीरछत्रसाल मातृभूमि की मुक्ति हेतु संलग्न थे तो दक्षिण में छत्रपति शिवाजी ने बीजपुर की आदिलशाही और उत्तर में औरंगजेब की नाक में दम कर रखा था। इसलिए वीरता की अग्नि को प्रचण्ड ज्वाला बनाने कविभूषण पहले महाराज छत्रसाल के दरबार में रहे और फिर छत्रपतिशिवाजी के दरबार में रहे। भूषण राजाश्रय में रहे परन्तु विलासी राजाओं का आश्रय नहीं लिया। इसलिए भूषण ने लिखा -

ब्रह्म के आनन ते निकसे ते अत्यन्त पुनीत तिहुँपुर मानी ।

राम युधिष्ठिर के बरने बलमीकिहु व्यास के अंग सुहानी ॥

भूषण यों कलि के कविराजन, राजन के गुन पाय नसानी ।

पुण्य चरित्र शिवा सरजा, सर न्हाय पवित्र भई पुनि बानी ॥

इनके 'शिवराजभूषण', 'शिवाबावनी', 'छत्रसालदशक', 'भूषणउल्लास', 'दूषणउल्लास', और 'भूषणहजारा' नामक ग्रन्थ मिलते हैं।

रीतिकाल के कवि होने के कारण कवि भूषण ने अपना 'शिवराज-भूषण' अंलकार ग्रन्थ के रूप में बनाया। वैसे अंलकार निरूपण की दृष्टि से इसे कोई उत्तम ग्रन्थ नहीं कहा जा सकता है। लक्षणों की भाषा में भी स्पष्टता का अभाव है। उदाहरण भी कहीं-कहीं ठीक नहीं हैं।

इस प्रकार आचार्यकार्य में भूषण इतने सफल नहीं हो पाए जितने ये कविकार्य में प्रसिद्ध हुए। विषय के अनुरूप जिस ओजपूर्ण वाणी की अपेक्षा होती है, वह इनके काव्य में सर्वत्र और

स्पष्ट परिलक्षित होती है। इनकी ओजपूर्ण कविता से पाठक वीररस जनित शक्ति-स्फूर्ति का अनुभव करता है और आनन्द विभोर हो जाता है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है –

इन्द्र जिमि जम्भ पर, बाडव सुअम्भ पर
रावन सदम्भ पर, रघुकुल राज है।
पौन वारिवाह पर, संभु रतिनाह पर,
ज्यों सहस्त्रबाहुपर, राम द्विजराज है
दावा द्रुमदण्ड पर, चीता मृग झुण्ड पर
भूषण वितुण्डपर जैसे मृगराज है।
तेज तम अंस पर कान्ह जिमि कंस पर
त्यो मलेच्छ बंस पर सेर शिवराज हैं ॥

महाराजा जसवन्त सिंह (1626–1678)

जसवन्त सिंह मारवाड़ के प्रसिद्ध प्रतापी राजा थे। इनका जन्म संवत् 1683 में हुआ था। इनके पिता का नाम महाराजा गजसिंह था। इनके बड़े भाई अमरसिंह बड़े उग्र स्वभाव के थे, इस कारण इनके पिता महाराजा गजसिंह ने उन्हें राज्य गद्दी से वंचित कर दिया था। जसवन्त सिंह को राज्य गद्दी प्राप्त हुई। इनका राज्य एक प्रकार से दिल्ली के दरबार के अधीन था। ये बड़े वीर थे। शाहजहाँ के समय में इन्होंने कई युद्धों में भाग लिया और विजय प्राप्त की। औरंगजेब इनसे सदैव भयभीत रहता था। इसलिए इनको सदैव दिल्ली से दूर रखता था। अफगानों को काबू में रखने के लिए इनको काबुल भेजा गया और अन्त में वहीं संवत् 1735 में इनका निधन हुआ।

ये साहित्य मर्मज्ञ, गुणी, उदार और तेजस्वी शासक थे। स्वयं कवि थे और कवियों के आश्रय दाता थे। ये भी हिन्दी साहित्य के प्रधान आचार्य माने जाते हैं। इनके कुछ ग्रन्थ तत्त्वज्ञान सम्बन्धी हैं। इनकी रचनाएँ हैं – अपरोक्षसिद्धान्त, अनुभवप्रकाश, आनन्द-विलास, सिद्धान्तबोध, सिद्धान्तसार और प्रबोधचन्द्रोदय नाटक। ये हिन्दी साहित्य क्षेत्र में आचार्य के रूप में अधिक प्रसिद्ध हैं कवि के बजाय।

इनका 'भाषा – भूषण' ग्रन्थ एक श्रेष्ठ रचना है। इस ग्रन्थ पर 'चन्द्रालोक' का प्रभाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। 'भाषा – भूषण' में एक ही दोहे में लक्षण और उदाहरण दोनों रखे गए हैं, जो हिन्दी विद्यार्थियों में अलंकार ज्ञान के लिए वैसे ही प्रसिद्ध हुआ जैसे संस्कृत विद्यार्थियों में 'चन्द्रालोक'। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं –

अत्युक्ति अलंकार— अलंकार अत्युक्ति यह बरनत अतिसय रूप।

जाचक तेरे दान तें गये कल्पतरु भूप ॥

सार अलंकार का उदाहरण—

एक—एक ते सरस जब अलंकार यह सार।

मधु सों मधुरी है सुधा कविता मधुर अपार ॥

देव (सन् 1673—1767)

रीतिकाल के रीतिबद्ध शृंगारिक कवियों में देवदत्त (देव) का नाम अपना विशिष्ट स्थान रखता है। ये इटावा (उत्तर प्रदेश) के काश्यप गोत्री, कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। इनका जन्म संवत् 1730 में हुआ और इनकी मृत्यु संवत् 1824 मानी जाती है। ये किसी एक आश्रयदाता के साथ अधिक समय टिक नहीं पाए और अनेक आश्रयदाताओं के साथ रहे परिणाम स्वरूप इनका अनुभव बहुत व्यापक रहा। इनके ग्रन्थों की संख्या 72 कही जाती है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इनके 25 ग्रन्थों का उल्लेख किया है जिसमें प्रमुख हैं भावविलास, अष्टयाम, भवानीविलास, प्रेमतरंग, मुगल-विलास, प्रेमचन्द्रिका, रसानन्दलहरी और रागरत्नाकर आदि। इनके अधिकांश ग्रन्थ काव्यशास्त्र से सम्बद्ध हैं। ये जितने ग्रन्थ हैं पूर्ण स्वतन्त्र नहीं हैं। बहुत सारे पद जो एक ग्रन्थ में पाए जाते हैं वे दूसरे ग्रन्थों में भी देखे जा सकते हैं। 'प्रेमचन्द्रिका' में प्रेम का सामान्य रूप से वर्णन किया है और उसके भेदोपभेदों का वर्णन किया है। राग रत्नाकर राग-रागनियों से सम्बन्धित है, देव हमारे सामने आचार्य और कवि दोनों रूपों में आते हैं। इन्होंने रस, अलंकार, शब्दशक्ति और काव्यांगों का पर्याप्त वर्णन किया है। इनका-सा अर्थ सौष्टव और नवोन्मेष विरले ही कवियों में मिलता है। शब्द शक्तियों के बारे में देव का कथन है—

अभिधा उत्तम काव्य है, मध्य लक्षणा लीन।

अधम व्यंजना रस निरस उलटो कहत नवीन।।

देव का भाषा पर विशेष अधिकार था। देव की भाषा तो मतिराम से भी श्रेष्ठ मानी जाती है। इनकी भाषा में अनुप्रासों की अच्छी छटा दिखाई देती है। जहाँ इनकी भाषा सुव्यवस्थित और स्वच्छ है, वहीं इनकी कविता भी अत्यन्त सरस है —

सांसन ही में समीर गयो अरु आँसुन ही सब नीर गयो ढरि।

तेज गयो गुन लै अपनो अरु भूमि गई तनु की तनुता करि।।

'देव' जियै मिलिबेई की आस कै, असहु पास अकास रहयो भरि।

जा दिन ते मुख हेरि हरै हँसि हेरि हियो जु लियो हरि जू हरि।।

देव ने शुद्ध प्रेम का बड़ा उत्तम वर्णन किया है। इनका दिया प्रेम का लक्षण कितना सुन्दर है —

सुख-दुख में है एक सम, तन-मन-वचन प्रतीत।

सहज बढै हित चित्त रहै, जहाँ सप्रेम सप्रीत।।

इनकी कविता की सुन्दरता का एक और उदाहरण द्रष्टव्य है —

ऐसो हौं जु जानतो कि जैहै तू विषै के संग,

एरे मन मेरे हाथ पाँव तेरे तोर तो।

आजु लागि हौं कत नरनाहन की नहीं सुनी,

नेह सौं निहार हेरि बदन निहोरतो।।

चलन न देतो 'देव' चन्चल अचल करि,

चाबुक चितावनीनि मारि मुँह मोरतो।

भारो प्रेम पाथर, नगारो दै, गरै सौँ बाँधि,
राधा-वर-विरद के वारिध में बोरतो ।।

भिखारीदास (कविता काल सन् 1725 से 1760)

भिखारीदास जाति से कायस्थ थे और प्रतापगढ़ (अवध) के पास ट्योंगा नामक ग्राम के निवासी थे। इनके पिता का नाम कृपालदास था। ये प्रतापगढ़ के राजा पृथ्वीसिंह के भाई हिन्दूपतिसिंह के आश्रय में रहे। इनके द्वारा प्रणीत 7 ग्रंथ उपलब्ध हैं। 'रससारांश', 'काव्यनिर्णय', 'शृंगारनिर्णय', 'छन्दोर्णवर्णिकल', शब्दनामप्रकाश, विष्णुपुराणभाषा और शतरंजशतिका। प्रथम तीन ग्रन्थ काव्यशास्त्रीय हैं, चौथा छन्दशास्त्र से सम्बन्धित है। भागीरथमिश्र के अनुसार भिखारीदास रीति कालीन अन्तिम वर्ग के सबसे बड़े आचार्य थे। यद्यपि काव्य निर्णय में उसकी सामग्री पूर्ववर्ती कवियों, आचार्य केशव, चिन्तामणि, श्रीपति आदि से ली है। तथापि उसमें भिखारीदास की विद्वता ही टपकती है। कवि की दृष्टि से भी भिखारी दास का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इन्होंने शृंगार सम्बन्धी कविताएँ लिखी हैं। इनकी कविता का उदाहरण देखिए -

अँखियाँ हमारी दर्ईमारी सुधि-बुधि हारी,
मोहू तेँ जु न्यारी दास रहैं सब काल में।
कौन गहै ज्ञानै काहि सौँपत सयाने, कौन,
लोक-ओक जानै, ये नहीं हैं निज हाल में ।।
प्रेम पगि रहीं महामोह मैं उमगि रहीं,
ठीक ठगि रहीं लगि रहीं बनमाल में।
लाज को अँचै कै, कुलधरम पचै कै वृथा,
बंधन सँचै कै, भई मगन गोपाल में ।।

इनकी भाषा परिमार्जित है। शब्दों का चयन भी विषयानुकूल किया है। इनकी व्यंजना पद्धति सरस और व्यंग्य प्रधान है। इनकी ब्रजभाषा में संस्कृत के अतिरिक्त उर्दू और फारसी के शब्द भी आ गए हैं। ब्रजभाषा के सम्बन्ध में दास कहते हैं-

ब्रजभाषा भाषा रुचिर, कहै सुमति सब कोय।
मिलै संस्कृति पारस्यो पै अति प्रकट जु होय ।।
ब्रज मागधी मिलै भ्रमर, नाग यमन भाखानि।
सहज पारसी हू मिलै, षट् विधि कवित बखानि ।।

पद्माकरभट्ट (1753-1833)

पद्माकरभट्ट का जन्म बाँदा में संवत् 1810 में हुआ। इनके पिता का नाम श्री मोहनलाल था। ये तैलंग ब्राह्मण थे। पद्माकर को रीतिकाल के उत्तरार्द्ध का अन्तिम और सर्वश्रेष्ठ कवि माना जाता है। इनको बिहारी की तुलना का कवि माना जाता है। ये अनेक राजाओं के दरबारों की शोभा बढ़ाते रहे। कई राजदरबारों में इनका बड़ा मान था। ये अनूपगिरि (हिम्मतबहादुर) जो बाँदा के नवाब के बड़े अधिकारी थे, के यहाँ रहे और 'हिम्मत बहादुर विरदावली' ग्रन्थ लिखा। ये जयपुर के महाराज जगतसिंह के यहाँ भी रहे हैं और अपना प्रसिद्ध ग्रन्थ 'जगविनोद' लिखा। 'जगविनोद'

के अतिरिक्त इनके ग्रन्थ हैं पद्माभरण, जयसिंहविरूदावली, हितोपदेश, रामरसायन, प्रबोधपचासा और गंगालहरी। संवत् 1890 में कानपुर में गंगातट पर इनका देवलोक गमन हुआ।

शुक्ल जी के अनुसार "लाक्षणिक शब्दों के प्रयोग द्वारा ये कहीं – कहीं मन की अव्यक्त भावना को ऐसा मूर्तिमान कर देते हैं कि सुनने वाले का हृदय आप ही आप हामी भरता है।" लाक्षणिकता इनकी बड़ी विशेषता है।

यद्यपि इन्होंने वीर रस की कविता भी लिखी तथापि शृंगाररस की कविता ही इनकी विशेष प्रसिद्धि का कारण है।

पागु की भीर, अभीरिन में गहि गोविन्द लै गई भीतर गोरी।

भाई करी मन की पद्माकर, ऊपर नाई अबीर की झोरी।।

छीनि पितंबर कम्मर तें सु विदा दर्ई मीड़ि कपोलन रोरी।

नैन नचाय कही मुसुकाय, लला फिर आइयो खेलन होरी।।

पद्माकर का 'जगविनोद' कवित्व के गुणों से ओत-प्रोत ग्रंथ है। इनकी प्रसिद्धि का आधार भी यही ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में शृंगार रस का बड़ा विस्तृत वर्णन किया है। शृंगार के संयोग और वियोग दोनों पक्षों का सरस वर्णन है। ये एक उत्कृष्ट कवि थे। शब्द चयन के कुशल शिल्पी थे। इनकी कविता में अनुप्रास की छटा भी दर्शनीय है।

आई संग आलिन के ननद पटाई नीटि,

सोहत सोहाई सीस ईडरी सुपट की।

कहै पद्माकर गँभीर जमुना के तीर,

लागी घट भरन नवेली नेह अटकी।

ताही समय मोहन जो बाँसुरी, बजाई, तामें

मधुर मलार गाई ओर बंसीवट की,

तान लागे लटकी, रहीं न सुधि घूँघट की,

घर की न घाट की, न बाट की न घट की।।

कवि गंग (1538 से 1617 ई०)

गंग अकबर के दरबारी कवि थे। इनका समय 16 वीं शती रहा होगा। आचार्य शुक्ल ने अपने ग्रन्थ 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में इनकी गणना भक्ति काल के कवियों में की है परन्तु इनकी रचना पद्धति रीति काल की सी है इसलिए ये रीति काल के ही कवि ठहरते हैं। अकबर के दरबारी कवि रहीम इनके परम मित्र थे। इनका कोई ग्रन्थ तो नहीं मिलता परन्तु समकालीन और परवर्ती कवियों में इनका नाम बड़े सम्मान के साथ लिया जाता है। कहा भी गया है— 'तुलसी गंग दुऔ भए सुकविन के सरदार।'

ये सरल सुहृदय कवि थे। वीर रस और शृंगार के बहुत मनभावन कवित्त इन्होंने कहे हैं। कहीं-कहीं बहुत अतिशयोक्तिपूर्ण विरहताप का वर्णन भी इनकी कविताओं में मिलता है। उदाहरण स्वरूप यह पद —

बैठी थी सखिन संग, पिय को गवन सुन्यो,

सुख के समूह मे वियोग आगि भरकी ।
 गंग कहै त्रिविध सुगंध लै पवन बह्यो,
 लगत ही ताके तन भई बिथा जर की ।।
 प्यारी को परसि पौन गयो मानसर कहँ,
 लगत ही औरे गति भई मानसर की ।
 जलचर जरे औ सेवार जरि छार भयो,
 तल जरि गयो, पंक सूख्यो भूमि दर की ।।

इनकी वीर रस की कविता का एक पद द्रष्टव्य है –

झुकत कृपान मयदान ज्यों उदोत भानु,
 एकन ते एक मानौं सुषमा जरद की ।
 कहै कवि गंग तेरे बल की बयारि लगे,
 फूटी गजघटा घन घटा ज्यों सरद की ।
 एते मान सोनित की नदियाँ उमड़ि चलीं,
 रही न निसानी कहँ महि में गरद भी ।
 गौरी गह्यो गिरिपति गनपति गह्यो,
 गौरीपति गहि पूछ लपकि बरद की ।।

ऐसी किंवदन्ती है कि ये अकबर के दरबारी कवि होते हुए भी कभी बादशाह की प्रशंसा नहीं करते थे। इनसे ईर्ष्या रखने वाले दरबारियों ने एक बार एक ऐसी काव्य पंक्ति (समस्यापूर्ति) रखी जिससे अन्त में आता था। 'आस करै सब अकबर की' भरे दरबार में कवि गंग को इस समस्यापूर्ति पर कवित्त बनाने को कहा। गंग ने कवित्त बनाया –

अनेक गुनिया दुनियाँ को ठगें, सिर बाँधत पोट अटब्बरकी ।
 चपलूसी सुहाति करै, जिन्है लाज नहीं कुलढब्बरकी ।
 गंग के एक अधार प्रभु, वो तो बात न मानत जब्बर की ।

जिनको हरि की कछु आस नहीं, सो करौ मिलि आस अकब्बर की ।।

अकबर के बाद ये जहाँगीर के आश्रय में भी रहे। उन दिनों शासन नूरजहाँ के हाथ में था। नूरजहाँ इनसे नाराज हो गई और इनको हाथी से मरवाने का आदेश दे दिया। इस अवसर पर कवि गंग ने यह दोहा पढ़ा –

कबहुँ न भँडुआ रन चढै, कबहुँ न बाजी बंब ।

सकल सभाहि प्रनाम करि, बिदा होत कवि गंग ।।

गंग कवि ने झुकना स्वीकार नहीं किया और मरना स्वीकार किया। जब कवि को मैदान में हाथी से मरवाया जाना था तब उससे पूछा कवि कैसा लग रहा है तो कवि ने उत्तर दिया –

सब देवन को दरबार जुर्ग्यौ तहँ पिंगल छन्द बनाय कै गायो ।

जब काहु ते अर्थ कह्यौ न गयो, तब नारद एक प्रसंग चलायो ।

मृतलोक में है नर एक गुनी, कवि गंग को नाम सभा में बतायो ।

सुनि चाह भई परमेसर को तब गंग को लेन गनेस पढायो।

कवि ने प्राण लेने को तत्पर हाथी को परमात्मा द्वारा भेजे गए गणेश से उपमित कर अपने स्वाभिमानी होने और मृत्यु से भी निडर होने का परिचय दिया।

रीतिसिद्ध धारा के प्रसिद्ध कवि बिहारी (सन् 1595-1663)

बिहारी रीतिकाल के सर्वाधिक प्रसिद्ध कवि माने जाते हैं। रीतिकाल के अन्तर्गत बिहारी ही एक मात्र ऐसे कवि हैं जिनको रीतिसिद्ध कवि माना जाता है क्योंकि उन्होंने किसी प्रकार के लक्षण ग्रन्थ नहीं लिखे परन्तु फिर भी इनके 'सतसई' नामक सर्वाधिक प्रसिद्ध ग्रन्थ में रीति परिपाटी की सभी विशेषताएँ उपलब्ध हैं।

आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र के अनुसार "बिहारी ने आचार्य कर्म से दूर रहकर जो सतसई रची उसमें रीतियाँ स्वतः सिद्ध होती चली गई हैं, इसलिए ये रीति सिद्ध कवि हैं।" इनका जन्म ग्वालियर राज्य के बसुवा गोविन्दपुर में संवत् 1652 के लगभग हुआ बताते हैं और मृत्यु संवत् 1720 के आस-पास हुई बताते हैं। इनका बचपन बुन्देलखण्ड में बीता, युवावस्था में ये अपने ससुराल मथुरा आए थे। इस सम्बन्ध में एक दोहा प्रसिद्ध है -

जन्म ग्वालियर जानिये, खण्ड बुन्देले बाल।

तरुनाई आई सुखद, मथुरा बसि ससुराल।।

बाद में इनका समय जयपुर के महाराज जयसिंह के आश्रय में बीता। कहते हैं, ये जब जयपुर पहुँचे तो महाराज अपनी नई रानी के प्रेम में इतने डूबे हुए थे कि महल से बाहर कहीं नहीं निकलते थे और राजकाज पर ध्यान ही नहीं देते थे। प्रमुख सभासदों के आग्रह पर उन्होंने एक दोहा लिखकर महल में भेजा -

नहिं पराग नहिं मधुर मधु, नहिं विकास इहिं काल।

अली कली ही सो बँध्यो, आगे कौन हवाल।।

कहते हैं दोहे को पढ़ कर महाराज इतने प्रभावित हुए कि ये महाराज के प्रिय बन गए। हर दोहे पर इनको एक स्वर्णमुद्रा पुरस्कार में मिलती थी। ये बड़े स्वतन्त्र प्रकृति के कवि थे। महाराज के आश्रय में थे परन्तु जयसिंह मुगलों के अधीन थे। ये मुगलों की ओर से हिन्दू राजाओं के विरुद्ध लड़ते थे, तो अपने आश्रयदाता को लिखा -

स्वारथ सुकृत न श्रमवृथा देखि विहंग विचारि।

बाज पराये पानि पर, तू पच्छीनु न मारि।।

बिहारी ने कोई लक्षण ग्रन्थ नहीं लिखा तथापि शृंगार सम्बन्धी जितने विभाव-अनुभाव, संचारी भाव आदि हैं सतसई में उन सभी के उदाहरण उपस्थित हैं। ये बड़े ही सूक्ष्म निरीक्षण प्रतिभा के कवि थे। एक ही दोहे में कैसा चित्र खींचते थे, उदाहरण देखिए -

बतरस लालच लाल की, मुरली धरी लुकाइ।

सौँह करै, भौहनि हँसै, दैन कहै नटि जाइ।।

शृंगार के संचारी भाव व्यंजना का एक और मर्मस्पर्शी उदाहरण इस दोहे में है -

सघन कुंज, छाया सुखद, सीतल मन्द समीर।

मन ह्वै जात अजौं वहै, वा जमुना के तीर ।।

बिहारी शृंगार के कवि है। गागर में सागर भरना इनकी विशेषता है। हृदय स्थित नायिका की शान्ति भंग होने की आशंका से नायिका मान सम्बन्धी सीख सुनना नहीं चाहती, वह शब्दों से नहीं नेत्रों के संकेतों से काम लेती है।

सखी सिखावति मान विधि, सैननि बरजति बाल ।

हरुए कहि मो हिए बसत, सदा बिहारी लाल ।।

इनके नीति सम्बन्धी दोहे भी बहुत प्रसिद्ध हैं –

नर की अरु नल नीर की, गति एकै करि जोड़ ।

जेतौ नीचौ ह्वै चलै, तेतौ ऊँचौ होइ ।।

कोटि जतन कोऊ करै, परै न प्रकृति हिं बीच ।

नल बल जल ऊँचौ चढ़ै, अन्त नीच कौ नीच ।।

इनके काव्य में अलंकार योजना भी बड़ी अद्भुत है। एक ही दोहे में कई अलंकारों का प्रयोग हुआ है। 'असंगति और विरोधाभास' की ये प्रसिद्ध उक्तियाँ देखने योग्य हैं –

दृग उरझत, टूटत कुटुम, जुरत चतुर-चित प्रीति ।

परति गाँठि दुरजन हिए, दर्ई नई यह रीति ।।

तंत्रीनाद कवित्त रस, सरस राग रति रंग ।

अनबूडे बूड़ेतिरे, जे बूड़े सब अंग ।।

रीतिमुक्त काव्यधारा –

वे कवि जो रीति का सम्पादन करने में अपनी कवित्व शक्ति का चमत्कार दिखा रहे थे रीतिसिद्ध कहलाए। दूसरे वे जो रीति के बन्धन से मुक्त थे। रीतिमुक्त या स्वच्छन्द धारा के कवि कहलाए। रीतिमुक्त काव्यधारा के कवि रीतिशास्त्र की बँधी-बँधाई शास्त्रीय परंपरा का अनुगमन न करके, अपनी स्वच्छन्द प्रवृत्ति को सर्वोपरि मानते हुए उन्मुक्त प्रेम के गीत गाते थे। दोनों प्रकार के काव्यों में शृंगार और प्रेम की प्रधानता है और विषय-वस्तु की दृष्टि से इन दोनों में कोई अन्तर नहीं था किंतु भावों के प्रकार; गहराई तथा अभिव्यक्ति में बहुत पृथक्ता स्पष्ट दृष्टिगोचर होती थी। रीतिमुक्त काव्यों ने रीतिबद्ध कवियों की भाँति लक्षण ग्रंथों की रचना नहीं की, वरन् रीति का बन्धन ढीला करके चले हैं। रीतिमुक्त प्रेमकाव्य की रचना करने वालों में रसखान, घनानन्द, आलम, बोधा, ठाकुर आदि कवि प्रमुख माने जाते हैं।

रीतिमुक्त काव्यधारा की विशेषताएँ –

1. शृंगार का उदात्त चित्रण – इस काल में चित्रित प्रेम विलास एवं काम मूलक न होकर उदात्त रूप में चित्रित हुआ है। इसमें भाव गाम्भीर्य एवं वियोग पक्ष का प्राधान्य है। प्रेम का वर्णन भी दूती या सखियों के माध्यम से न होकर आत्मा की पुकार एवं प्रेम की आन्तरिक भावना के रूप में हुआ है। इसमें चमत्कार प्रदर्शन की प्रवृत्ति का अभाव है और तीव्र एकान्तिक प्रेम-भाव का निरूपण है। इसमें वासनोन्मुखता का अभाव है।

2. प्रेम की पीर – उन्मुक्त कवियों ने विरहानुभूति का मर्मस्पर्शी चित्रण किया है और वियोगान्तर्गत प्रेमी-हृदय की अन्तर्दशाओं का व्यंग्योक्तियों और उपालम्भों द्वारा मार्मिक वर्णन किया है। इनकी प्रेम की पीर सूफी-प्रेम की पीर से प्रभावित है।

3. प्रेम का एकान्तिक चित्रण – रीतिमुक्त काव्य में हमें प्रेम का एकतरफा चित्रण फारसी की शैली पर मिलता है। स्वच्छन्दतावादी कवियों ने प्रेम की पीर फारसी काव्यधारा की वेदना की प्रवृत्ति के साथ सूफी-कवियों से ग्रहण की है।

4. भावप्रधान संयोग वर्णन – रीतिमुक्त काव्य में संयोग पक्ष का भी मार्मिक वर्णन है। वहाँ भी वर्णन की मुद्राओं और हाव-भावों के हृदय पर पड़े प्रभाव का ही निरूपण अधिक हुआ है।

5. श्रीकृष्णलीला का प्रभाव – रीतिमुक्त काव्य में श्रीकृष्ण की लीलाओं का व्यापक प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। रीतिमुक्त कवियों ने श्रीकृष्ण की अलौकिक आलम्बन के सहारे अपने उन्मुक्त प्रेम की भावधारा को प्रवाहित किया है।

5. मुक्तक शैली – रीतिमुक्त काव्य की रचना कवित्त और सवैया छन्दों के माध्यम से मुक्तक शैली में हुई है।

7. अलंकरण का प्राधान्य – रीतिमुक्त काव्य में अलंकार की प्रवृत्ति पाण्डित्य प्रदर्शन के लिए न होकर सूक्ष्म अन्तर्वृत्तियों का परिचय देने एवं प्रेम की विषमता का निरूपण करने के लिए दिखाई पड़ती है। रीतिमुक्त काव्य में मुहावरे और लोकोक्तियों के विधान से स्वाभाविकता आ गई है –

तुम कोन सौ पाटी पढ़ै हौ लला, मन लेहु पै देहु छटांक नहीं।

8. ब्रजभाषा का प्रयोग – इन कवियों ने ब्रजभाषा में विशुद्धा एवं प्रौढ़ता के साथ माधुर्य का और कहीं-कहीं फारसी के शब्दों का भी प्रयोग किया है।

रीतिमुक्त कवियों की प्रेम व्यंजना –

रीतिमुक्त कवियों की प्रेम-व्यंजना का रूप रीतिबद्ध कवियों से भिन्न था। इनकी प्रेम व्यंजना की प्रमुख विशेषताएँ इस प्रकार हैं –

1. परंपरागत नायिका भेद प्रणाली का परित्याग – रीतिमुक्त कवियों ने प्रिय के प्रति एकान्तनिष्ठा प्रदर्शित की है और अनुभवनिष्ठ प्रेम को महत्ता प्रदान करके रीतिबद्ध कवियों के द्वारा स्वीकृत परंपरागत नैतिक मूल्यों को स्वीकार नहीं किया है।

2. अशरीरी मानसिक प्रेम – रीतिमुक्त कवियों का प्रेम रीतिबद्ध कवियों की भाँति शरीरी न होकर मानसिक है। साथ ही इनके प्रेम में वैयक्तिकता का विशेष प्रभाव दिखाई पड़ता है।

3. स्वच्छन्द नायक-नायिका – रीतिमुक्त कवियों ने स्वच्छन्द प्रेम के रीति-रहित-प्रेम के गीत गाए हैं –

लोक की लाज और सोच प्रलोक को वारिये प्रीति के ऊपर दोऊ।

गाँव की, गेह को, देह को नातो सनेह में हाँ तो करै पुनि सोऊ।।

4. एकान्तिक प्रेम की साधना – यह मार्ग स्वच्छन्द होने के साथ ही लौकिक मर्यादाओं की अवहेलना करने के कारण विषम भी है। इसमें समाज-पक्ष एवं परंपरा दोनों की अवहेलना हुई है –

चाहौ अनचाहौ जान प्यारे पै आनन्द घन।

प्रीति रीति विषम सु रोम-रोम रमी है।।

5. वियोग का प्राधान्य – उन्मुक्त प्रेम की तीव्रता-विरह की पीड़ा एवं निराशा के व्याकुल स्वर से तीव्रतर होती गई है। फारसी कवियों की प्रेम की पीर का प्रभाव इन पर स्पष्ट दिखाई पड़ता है –

हम कौन सौं पीर कहैं अपनी,

दिलदार तो काऊ दिखात नहीं। (बोधा)

सुनो जग हेरों रे अंमोही। काहि काहि टेरों,

आनन्द के घन ऐसौ कौन लेखै लेखिए। (घनानन्द)

इन कवियों ने रूप-यौवन के साथ मानसिक दशाओं के भावपूर्ण वर्णन से वियोग की मर्मस्पर्शिता को बढ़ाने का प्रयास किया है।

रीतिमुक्त धारा के प्रमुख कवि घनानन्द (1689-1739 ई.)

इनका जन्म संवत् 1746 के लगभग उत्तर प्रदेश के बुलन्द शहर में हुआ और इनका निधन संवत् 1796 में हुआ। घनानन्द को रीतिमुक्त धारा का कवि माना जाता है। ये जाति के कायस्थ थे। दिल्ली के बादशाह मुहम्मद शाह के मीर मंत्री थे। कुछ अन्य मन्त्री सामन्त इनसे ईर्ष्या करते थे। एक बार जब दरबार लगा था तो उन ईर्ष्यालुओं ने बादशाह को कहा कि मीर मन्त्री जी बहुत अच्छा गाते हैं। बादशाह ने आग्रह किया तो ये टालमटोल करने लगे। लोगों ने कहा इनका सुजान से प्रेम है। यदि उसे दरबार में बुलाकर गाने का आग्रह कराएँगे तो इनको गाना ही पड़ेगा। सुजान को दरबार में बुलाया गया। घनानन्द ने सुजान की ओर मुँह करके और बादशाह की ओर पीठ करके ऐसा गाया कि सब तन्मय हो गये। इनका गायन सुनकर सब दंग रह गए। इनके गाने से तो बादशाह प्रसन्न हुआ परन्तु इनकी बेअदबी से नाराज हो इनको शहर से निकालने का हुकम दे दिया। जब ये शहर छोड़कर जाने लगे तो इन्होंने सुजान से भी साथ चलने को कहा। सुजान ने मना कर दिया तो कहते हैं, इन्हें वैराग्य हो गया और ये वृन्दावन जाकर निम्बार्क सम्प्रदाय में दीक्षित हो गए, परन्तु सुजान की छवि इनको जीवन भर आती रही।

घनानन्द मुख्यतः शृंगार के कवि है। वियोग शृंगार में इनकी वृत्ति अधिक रमी है। ये प्रेम की पीर के कवि है। इनका प्रेम अन्तर्मुखी है। इनकी शृंगार की कविताओं में हृदय की सूक्ष्म भावनाओं का बड़ा हृदयस्पर्शी चित्रण हुआ है। उदाहरण स्वरूप यह सवैया है –

अति सूधो सनेह को मारग है, जहँ नैकु सयानप बाँक नहीं।

तहँ साँच चलै तजि अपनापौ, झिझकै कपटी जो निसाँक नहीं।।

धनआनन्द प्यारे सुजान सुनौ, इत एकते दूसरो आँक नहीं।

तुम कौनसी पाटी पढ़े हौ लला, मन लेहुँ पै देहु छटाँक नहीं।।

घनानन्द के प्रमुख ग्रन्थ हैं- सुजानसागर, विहरलीला, कोकसार, रसकेलिबल्ली, इश्कलता, ब्रजविलास, कृपाकन्द और गोकुलगीता। शुक्ल के अनुसार “प्रेम मार्ग का ऐसा प्रवीण और धीर पथिक तथा जवाँदानी का ऐसा दावा करने वाला ब्रज भाषा का दूसरा कवि नहीं हुआ।”

जब नादिरशाह का आक्रमण हुआ तो इनके सैनिक मथुरा तक आ पहुँचे और किसी से कह दिया वृन्दावन में बादशाह के मीर मंत्री रहते हैं इनके पास माल होगा। सिपाही आकर इनसे 'जर-जर' (धन-धन) कहने लगे। घनानन्द ने जर को उल्टा करके 'रज-रज' कहकर तीन मुट्ठी वृन्दावन की धूल उन पर फैंक दी। सैनिकों ने इनका हाथ काट डाला, कहते हैं इन्होंने मरते समय यह कविता रक्त से लिखी –

बहुत दिनान की अवधि आस पास परे,
खरे अरबरनि भरे हैं उठि जान को।
कहि कहि आवन छबिले मन भावन को,
गहि गहि राखति ही दै दै सनमान को।
झूठि बतियानि पत्यानि तें उदास हवै कै,
अब आ धिरत घन आनँद निदान को।
अधर लगे हैं आनि करि कै पयान प्रान,
चाहत चलन ये सँदेशो लै सुजान को।।

स्वच्छन्द प्रवृत्ति का कवि अन्तर्मुखी होता है। उसकी अनुभूति इन्द्रियानुभूति नहीं हृदयानुभूति होती है, इसलिए उसके काव्य में भावावेग का तीव्र प्रवाह बहता है। घनानन्द की कविता जीवन्त उदाहरण है। इनकी कविता में सांकेतिकता और कहीं कहीं रहस्यात्मकता भी मिलती है। उदाहरण स्वरूप यह सवैया द्रष्टव्य है –

मन जैसे कछु तुम्हें चाहत है, सो बखानिये कैसे सुजान ही हौं।
इन प्राननि एक सदा गति रावरे, बावरे लौं लगिये नित लौं।
बुधि औ सुधि नैननि बैननि में, करि बास निरन्तर अन्तर गौ।
उघरो जग छाय रहे घन आनन्द, चातक लौं तकियै अब तौं।।

यहाँ प्रेम का विषय सांसारिक प्राणी और परमात्मा दोनों ही हो सकते हैं। इनके प्रेम का आधार सुजान अवश्य थी परन्तु इनके प्रेम की परिणति (सु+ज्ञान) परमेश्वर में हुई।

गुरु गोविन्दसिंह (1666–1708 ई.)

सिख पंथ के दसवें गुरु गोविन्दसिंह का जन्म संवत् 1723 में पटना (बिहार) में हुआ और परलोक गमन संवत् 1765 में हुआ। इनके पिता का नाम गुरु तेगबहादुर और माता का नाम गुजरीबाई था। ये योद्धा, संत, कवि और प्रशासक थे। इनका व्यक्तित्व बहुआयामी था। इन्होंने हिन्दुओं की रक्षा के लिए खालसा पंथ की स्थापना की। ये साहित्य के बड़े प्रेमी थे। यद्यपि सिख सम्प्रदाय में निर्गुण भक्ति का प्राधान्य रहा है परन्तु गुरु गोविन्दसिंह जी ने 'चण्डी-चरित' आदि ग्रन्थों में सगुणोपासना की है। 'चण्डी चरित' बड़ा औज पूर्ण शैली का ग्रन्थ है। गुरु गोविन्दसिंह की रचनाओं में वीररस की प्रधानता है। यद्यपि ये पंजाबी थे तथापि इन्होंने अपनी रचनाओं में साहित्यिक ब्रजभाषा का प्रयोग किया है। इन्होंने पंजाबी और फारसी में भी रचना की है। इनकी 'चौबीसअवतार' नामक रचना में शृंगार रस भी पर्याप्त दिखाई देता है। इनके अन्य प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं

‘सुमतिप्रकाश’, ‘सर्वलोहप्रकाश’, प्रेमसुमार्ग और ‘बुद्धिसागर’। इनकी भक्ति-नीतिपरक रचना का उदाहरण देखिए –

धन्य जियौ तेहि को जग में मुखते हरि चित्त जु शुद्ध विचारैं ।
देह अनित्त न नित्त रहै जस नाव चढ़ें भव सागर तारै ॥
धीरज धाम बनाय रहै तन बुद्धि सुदीपक ज्यों उजियारै ।
ज्ञानहिं की बढ़नी मनो हाथ ले कातरता कत बार बुहारैं ॥

परमात्मा की प्राप्ति के लिए दिखावा नहीं मन की शुद्धि और हृदय में प्रेम चाहिए। ढोंगी साधुओं को इनकी फटकार देखिए –

ध्यान लगाय ठग्यो सब लोगन सीस जटा नख हाथ बढ़ाये ।
लाय भभूत मल्यौ मुख ऊपर देव अदैव सबै उहकाये ॥
लोभ के लागे फिर्यो घर ही घर जोग के न्यास सबै बिसराये ।
लाज गई कछु काज कर्यो नहीं, प्रेम बिना प्रभु ध्यान न आये ॥

ठाकुर बुन्देलखण्डी (1766 से 1823 ई०)

हिन्दी साहित्य में ठाकुर नाम के 3 कवि हुए हैं। स्वच्छन्द प्रेम धारा के ये कवि ‘ठाकुर’ जाति के कायस्थ थे। इनका पूरा नाम लाला ठाकुरदास था। इनके पूर्वज लखनऊ के पास के रहने वाले थे। इनके पूर्वज ओरछा (बुन्देलखण्ड) आकर बस गए थे। इनका जन्म संवत् 1823 में ओरछा में हुआ। ये जैतपुर के राजा केसरीसिंह के दरबार में रहने लगे। जोधपुर और बिजावर के दरबार में भी इनका बड़ा नाम था। जैतपुर के राजा केसरी सिंह के बाद इनके पुत्र राजा परीछत के दरबार में इनको बहुत सम्मान मिला। पद्माकर के आश्रयदाता हिम्मत बहादुर के दरबार में भी इनका बड़ा आदर था। इनका परलोक गमन संवत् 1880 के लगभग हुआ।

इनकी एक रचना ‘ठाकुरठसक’ नाम से लाला भगवान दीन ने प्रकाशित करवाई थी। घनानन्द की तरह ठाकुर ने भी काव्यगत मान्यताएँ स्थापित कीं। इनको परम्परागत परिपाटियों पर कविता करना स्वीकार नहीं था। आचार्य शुक्ल लिखते हैं – “ठाकुर बहुत ही सच्ची उमंग के कवि थे। इनमें कृत्रिमता का लेश मात्र भी नहीं था। ना बाह्याडम्बर था ना कल्पना की झूठी उड़ान।” इन्होंने काव्य को आत्मानुभूति प्रेरित माना है। ये रीतिबद्ध कवियों पर व्यंग्य करते हुए कहते हैं –

सीखि लीन्हौ मीन मृग खंजन कमल नैन
सीखि लीन्हौ यश औ प्रताप को कहानो है ।
सीखि लीन्हौ कल्पवृक्ष कामधेनु चिन्तामनि
सीखि लीन्हौ मेरु औ कुबेर गिरि आनो है ।
ठाकुर कहत याकी बड़ी है कठिन बात,
याको नहिं भूलि कहुँ बाँधियत बानो है ।
ढेल सो बनाय आय मेलत सभा के बीच,
लोगन कबित्त कीबो खेल करि जानो है ।

कहते हैं हिम्मत बहादुर के दरबार में एक बार हिम्मत बहादुर इन पर नाराज हो गए और इन पर झल्लाने लगे। ये बहुत ही निर्भीक कवि थे। इनने कवित्त पढा –

वेई नर निर्णय निदान में सराहे जात,
सुखन अघात प्याला प्रेम को पिए रहैं।
हरि रस चंदन चढ़ाय अंग अंगन में,
नीति को तिलक, बेंदी जस की दिए रहैं।
ठाकुर कहत मंजु कंज ते मृदुल मन,
मोहनी स्वरूप धारे, हिम्मत हिए रहै।
भेंट भये समये असमये, अचाहे चाहे,
और लौं निबाहै आँखों एक सी किए रहै॥

इस पर हिम्मत बहादुर ने जब और कटु वचन कहे तो कवि ठाकुर ने म्यान से तलवार निकाल ली और यह कवित्त कहा –

सेवक सिपाही हम उन राजपूतन के,
दान जुद्ध जुरिबे में नेकु जे न मुरके।
नीति देनवारे हैं मही के महिपालन को,
हिये के बिसुद्ध हैं, सनेही साँचे उर के ॥
ठाकुर कहत हम बैरी बेवकूफन के,
जालिम दमाद हैं अदानियाँ ससुर के।
चोजिन के चोजी महा, मौजिन के महाराज,
हम कविराज हैं, पै चाकर चतुर के ॥

ठाकुर मूलतः प्रेम निरूपक कवि हैं। ये रीति की लीक पर नहीं चले। स्वच्छन्द पद लिखे। इन्होंने प्रेम का सफल निरूपण किया है। उदाहरण देखें –

पवस तें परदेश तें आय मिले पिय औ मन भाई भई है।
दादुर मोर पपीहरा बोलत, तापर आनि घटा उनई है ॥
ठाकुर वा सुखकारी सुहावनि दामिनि कौंधि कितैं को गई है।
री अब तो घन घोर घटा गरजौ बरसौ तुम्हें धूर दई हैं ॥

गिरधर कविराय –

इनका जन्म संवत् 1770 में माना जाता है। ये बहुत लोकप्रिय कवि थे। इनकी नीति सम्बन्धी कुण्डलियाँ बहुत प्रसिद्ध हैं। गिरधर को मध्यकाल के सद्गृहस्थों का सलाहकार कहा जाता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, तुलसीदास, गिरधर कविराय और घाघ को जनता का सलाहकार कवि मानते हैं। तुलसीदास धर्म और अध्यात्म के क्षेत्र में, गिरधर कविराय लोक व्यवहार और नीति के क्षेत्र में तथा घाघ खेतीबाड़ी के क्षेत्र में उत्तम नीति निर्देशक कवि हैं। गिरधर कविराय को संसार का व्यापक अनुभव था। इनकी कुण्डलियों में काव्य की मात्रा कम और तथ्य कथन की

प्रवृत्ति अधिक थी। इनकी भाषा सरल और बोध गम्य है। कहीं कहीं खड़ी बोली का प्रयोग भी किया है।

दान की महिमा और परमार्थ के लिए जीवन तक अर्पण की शिक्षा हेतु यह पद विचारणीय है –

पानी बाढ़ो नाव में घर में बाढ़ो दाम।
दोनो हाथ उलीचिये यही सयानों काम।।
यही सयानों काम राम को सुमिरन कीजै।
पर स्वार्थ के काज सीस आगे धर दीजै।।
कहि गिरधर कविराय बडेन की याही बानी।
चलिये चाल सुचाल राखिए अपनो पानी।।

इन्होंने न तो अनुप्रास आदि अलंकारों से भाषा को सजाया है और न उपमा-उत्प्रेक्षा से चमत्कार पैदा करने का प्रयास किया है। इनकी सर्वप्रियता का कारण सीधी भाषा में तथ्य कथन है।

उदाहरण देखिए –

रहिये लटपट काटि दिन बरु घामहि में सोय।
छाँह न बाकी बैठिये जो तरु पतरो होय।।
जो तरु पतरो होय एक दिन धोखा दै है।
जा दिन बहै बयारि टूटि जब जर से जैहैं।।
कह गिरधर कविराय छाँह मोटे की गहिए।
पाता सब झरि जाय तरु छाया में रहिए।।

बनवारी –

इनके जन्म और परिवार के विषय में ज्ञात नहीं है। इनके आश्रयदाता महाराजा जसवन्त सिंह (जिनका उल्लेख रीतिबद्ध कवि के रूप में पूर्व में हो चुका है) के बड़े भाई अमरसिंह राठौड़ थे। वे स्वभाव से बड़े उग्र थे। अमरसिंह की उग्रता के कारण ही पिता ने इनको राज्य से निकाल दिया था और जसवन्त सिंह को राज्य गद्दी सौंप दी थी। अमरसिंह शाहजहाँ के यहाँ मनसबदार हो गए थे। अमरसिंह बड़े वीर थे। सलावत खान ने अमरसिंह को भरे दरबार में गँवार कह दिया। अमर सिंह ने तुरन्त तलवार निकाल कर भरे दरबार में सलावत खाँ का सिर धड़ से अलग कर दिया और दरबार से निकल गए। जब उनको पकड़ने का प्रयत्न किया गया तो वे अपने घोड़े पर बैठकर आगरे के किले की ऊँची प्राचीर से घोड़े सहित नीचे कूद गए। उनका घोड़ा मर गया और अमरसिंह बच कर निकल गए। आज भी आगरे के लाल किले के नीचे जहाँ घोड़ा कूदा था वहाँ एक छोटा-सा स्मारक बना है। कवि बनवारी ने इस घटना का बड़े जोश पूर्ण शब्दों में वर्णन किया है।

धन्य अमर छिति छत्रपति अमर निहारो मान।

शाहजहाँ की गोद में हन्यो सलावत खान ।।
उत गकार मुखते कढ़ी इतै कढ़ी जमधार ।
'वार' कहन पायो नहीं भई कटारी पार ।।

इनकी शृंगार रस की कविता में भी यमक अलंकार का प्रयोग विशिष्ट ही होता था। इनकी कविता में 'यमक' का चमत्कार देखिए –

नेह बर साने तेरे नेह बरसाने देखि,
यह बरसाने बर मुरली बजावेंगे ।
साजु लाल सारी, लाल करें लालसा री,
देखिबै की लालसा री, लाल देखे सुख पावेंगे ।
तू ही उर बसी, उर बसी ना हि और तिय,
कोटि उरबसी तजि तोसों चित लावेंगे ।
सजे बनवारी बनवारी तन आभरन,
गोरे तन वारी बनवारी आजु आवेंगे ।।

इस प्रकार हम देखते हैं कि रीतिकालीन हिंदी साहित्य की प्रमुख प्रवृत्ति शृंगारी रचना है। यह शृंगारी रचना रीतिबद्ध और रीतिमुक्त दो प्रकार की हैं। जहाँ तक कलापक्ष का संबंध है यह काव्य मुक्त रूप से विरचित है और ब्रजभाषा में है। इसमें अलंकारों का बाहुल्य है और दोहा, कवित्त, सवैया आदि छन्दों का ही विनियोग हुआ है।

अभ्यासार्थ प्रश्न –

वस्तुनिष्ठ प्रश्न–

1. निम्न में से कौनसा कवि रीतिमुक्त धारा से सम्बन्धित नहीं है?
(क) घनानन्द (ख) ठाकुर (ग) गिरधर कविराय (घ) देव
2. बिहारी किस रस के प्रधान कवि हैं ?
(क) हास्यरस (ख) वीर रस (ग) शृंगार रस (घ) करुण रस
3. अमरसिंह राठौड़ की वीरता का वर्णन करने वाला कवि है ?
(क) भूषण (ख) गुरुगोविन्द सिंह (ग) बनवारी (घ) चिन्तामणि
4. 'शिवाबावनी' के रचनाकार हैं ?
(क) वृन्द (ख) ठाकुर (ग) भूषण (घ) गंग
5. निम्नलिखित में से किसे 'रीतिसिद्ध कवि' कहा जाता है ?
(क) बिहारी (ख) घनानन्द (ग) मतिराम (घ) देव

अतिलघूत्तरात्मक प्रश्न –

1. आचार्य शुक्ल ने रीतिकाल की समय सीमा क्या मानी है ?

2. भूषण के दो भाई भी प्रसिद्ध कवि थे। उनके नाम बताइए।
3. रीतिकालीन कवियों के तीन वर्ग कौन-कौन से हैं ?
4. किस रचनाकार को योद्धा, सन्त और कवि कहा गया है ?
5. राजस्थान का ऐसा कौनसा राजा था जो कवि था और जिसने अलंकार ग्रन्थ की रचना की ?

लघूत्तरात्मक प्रश्न—

1. कवि गंग को जब हाथी से चिरवाया जा रहा था तो हाथी को देखकर कवि ने क्या पद पढ़ा ?
2. 'भाषा भूषण' से उद्धृत अत्युक्ति अलंकार का उदाहरण वाला पद लिखिए ?
3. रीतिकालीन धार्मिक परिस्थितियाँ बताइए ?
4. देव का शब्द शक्ति के बार में क्या कथन है ?
5. आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र का कवि बिहारी के विषय में क्या कथन है ?

निबन्धात्मक प्रश्न—

1. रीतिकालीन कलात्मक और साहित्यिक परिस्थितियों का वर्णन कीजिए।
2. रीतिमुक्त काव्य की प्रमुख विशेषताएँ लिखिए।
3. रीतिकाल की प्रमुख प्रवृत्ति, शृंगारिकता का वर्णन करते हुए तत्कालीन कवि का कोई शृंगार रस का पद लिखिए।
4. बिहारी की अलंकार योजना पर सोदाहरण टिप्पणी लिखिए।

...

4. आधुनिक काल

(सन् 1843 ई० से अब तक)

भारतेन्दु-युग अथवा पुनर्जागरण-काल का उदय हिंदी-कविता के लिए नवीन जागरण के सन्देशवाहक युग के रूप में हुआ था, किन्तु इसके सीमांकन के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (1850-1885) के रचना-काल को दृष्टि में रखकर संवत् 1925 से 1950 की अवधि को नई धारा अथवा प्रथम उत्थान की संज्ञा दी है और इस काल को हरिश्चन्द्र तथा उनके सहयोगी लेखकों के कृतित्व से समृद्ध माना है। किन्तु उनके द्वारा निर्धारित कालावधि से कुछ अन्य लेखकों का वैमत्य है। यह उल्लेखनीय है कि भारतेन्दु द्वारा सम्पादित मासिक पत्रिका 'कविवचनसुधा' का प्रकाशन 1868 ई. में आरंभ हुआ था, अतः भारतेन्दु-युग का उदय 1868 ई. से मानना उचित है। इसी तर्क का अनुकरण करते हुए 'सरस्वती' के प्रकाशन-वर्ष (1900ई.) को भारतेन्दु-युग की परिसमाप्ति का सूचक माना जा सकता है।

भारतेन्दु युग में जन-चेतना पुनर्जागरण की भावना से अनुप्राणित थी; फलस्वरूप सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक क्षेत्रों में न केवल सक्रियता थी, अपितु इन सबमें गहन अन्तःसंबंध विद्यमान था। भारतेन्दुयुगीन कवि-कर्तृत्व पर इसका प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। इसकी परिणति विषय-चयन में व्यापकता और विविधता के रूप में हुई। मातृभूमि-प्रेम, स्वदेशी वस्तुओं का व्यवहार, गोरक्षा, बालविवाह-निषेध, शिक्षा-प्रसार का महत्त्व, मद्य-निषेध, भ्रूण हत्या की निन्दा आदि विषयों को कविगण अधिकाधिक अपनाने लगे थे। राष्ट्रीय भावना का उदय भी इस काल की अनन्य विशेषता है। ब्रह्मसमाज, प्रार्थना-समाज, आर्य-समाज, रामकृष्ण परमहंस और विवेकानन्द के विचारों तथा थियॉसॉफिकल सोसाइटी के सिद्धान्तों का प्रभाव भी जन-जीवन पर पड़ रहा था। आर्थिक, औद्योगिक और धार्मिक क्षेत्रों में पुनर्जागरण की प्रक्रिया आरम्भ होने लगी थी। पाश्चात्य शिक्षा-प्रणाली ने शैक्षिक क्षेत्र में भी वैयक्तिक स्वतन्त्रता की प्रेरणा प्रदान की। अंग्रेजी का प्रचार-प्रसार यद्यपि जनता से सम्पर्क-साधन और प्रशासकीय आवश्यकताओं के लिए किया जा रहा था, पर अंग्रेजी-साहित्य के अध्ययन ने अन्य देशों के साथ तुलना का अवसर भी प्रदान किया और इस तरह राष्ट्रीय भावना के विकास के लिए उचित वातावरण बन सका। मुद्रण-यंत्रों के विस्तार और समाचार पत्रों के प्रकाशन ने भी जन-जागरण में योगदान दिया। परिणामस्वरूप तत्कालीन साहित्य-चेतना मध्यकालीन रचना-प्रवृत्तियों तक ही सीमित न रहकर नवीन दिशाओं की ओर उन्मुख होने लगी।

भारतेन्दु युग के प्रमुख कवि एवं रचनाएँ

इस युग में शताधिक कवियों ने विविध प्रवृत्तियों के अन्तर्गत काव्य-रचना की है, किन्तु उनमें भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', प्रतापनारायण मिश्र, जगन्मोहनसिंह, अम्बिकादत्त व्यास और राधाकृष्णदास ही प्रमुख रूप से उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त श्रीधर पाठक (1859-1928), बालमुकुन्द गुप्त (1865-1907) और हरिऔध (1865-1945) की कविताओं का प्रकाशन भी इस युग में आरम्भ हो गया था।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र - कविवर हरिश्चन्द्र (1850-1885) इतिहास-प्रसिद्ध सेठ अमीचन्द की वंश-परंपरा में उत्पन्न हुए थे। उनके पिता बाबू गोपालचन्द्र 'गिरिधरदास' भी अपने समय के प्रसिद्ध कवि थे। हरिश्चन्द्र ने बाल्यकाल में अपनी काव्य प्रतिभा का लोहा मनवा लिया था। उस समय के साहित्यकारों ने उन्हें 'भारतेन्दु' की उपाधि से सम्मानित किया। कवि होने के साथ भारतेन्दु पत्रकार भी थे - 'कविवचनसुधा' और 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' पत्रिका का भी उन्होंने सम्पादन किया। उनकी काव्य-कृतियों की संख्या 70 है, जिनमें 'प्रेम-मालिका', 'प्रेम-सरोवर', 'गीत गोविन्दानन्द', 'वर्षा-विनोद', 'विनय-प्रेम-पचासा', 'प्रेम-फुलवारी', 'वेणु-गीति' आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। उन्होंने हिन्दी, ब्रज और उर्दू शैली में भी कविताएँ लिखी हैं। इनकी कविताओं में जहाँ प्राचीन परंपरागत विशेषताएँ मिलती हैं वहीं नवीन काव्यधारा का भी प्रवर्तन किया है। राजभक्त होते हुए भी वे एक सच्चे देशभक्त थे। भारतेन्दु कविता के क्षेत्र में वे नवयुग के अग्रदूत थे।

बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' - भारतेन्दु-मण्डल के कवियों में 'प्रेमघन' (1855-1923) का प्रमुख स्थान है। उनका जन्म उत्तरप्रदेश के जिला मिर्जापुर के एक सम्पन्न ब्राह्मण कुल में हुआ। भारतेन्दु की भाँति उन्होंने भी पद्य और गद्य दोनों में विपुल साहित्य-रचना की है। साप्ताहिक 'नागरी नीरद' और मासिक 'आनन्दकादम्बिनी' के सम्पादन द्वारा उन्होंने तत्कालीन पत्रकारिता को भी नई दिशा दी। 'जीर्ण जनपद', 'आनन्द अरुणोदय', 'हार्दिक हर्षादर्श', 'मयंक-महिमा', 'अलौकिक लीला', 'वर्षा-बिन्दु' आदि उनकी प्रसिद्ध काव्य-कृतियाँ हैं, जो अन्य रचनाओं के साथ 'प्रेमघन-सर्वस्व' के प्रथम भाग में संकलित हैं। इनकी कविताओं में शृंगारिकता के साथ-साथ जातीयता, समाज-दशा और देश-प्रेम की भी अभिव्यक्ति हुई है। यद्यपि उन्होंने राजभक्ति संबंधी कविताओं की भी रचना की है, तथापि राष्ट्रीय भावना की नई लहर भी उनकी कविताओं में मिलती है।

प्रतापनारायण मिश्र - 'ब्राह्मण' के संपादक प्रतापनारायण मिश्र (1856-1894) का जन्म बैजेगांव, जिला उन्नाव में हुआ था। वे ज्योतिष का पैतृक व्यवसाय न अपनाकर साहित्य-रचना की ओर प्रवृत्त हुए। कविता, निबंध और नाटक उनके मुख्य रचना-क्षेत्र हैं। 'प्रेमपुष्पावली', 'मन की लहर', 'लोकोक्ति-शतक', 'तृप्यन्ताम्' और 'शृंगार विलास' उनकी प्रसिद्ध रचनाएँ हैं। 'प्रताप-लहरी' उनकी प्रतिनिधि कविताओं का संकलन है। इन्होंने प्रेम की तुलना में समसामयिक देश-दशा और राजनीतिक चेतना का वर्णन अधिक मनोयोग से किया है। हास्य-व्यंग्यात्मक कविताओं के क्षेत्र में

मिश्र जी का अग्रणी स्थान है। प्रेमघन की भाँति उन्होंने भी लावणी-शैली में अनेक कविताएँ लिखी हैं।

जगन्मोहनसिंह — ठाकुर जगन्मोहनसिंह (1857-1899) मध्यप्रदेश की विजय-राघवगढ़ रियासत के राजकुमार थे। उन्होंने काशी में संस्कृत और अंग्रेजी की शिक्षा प्राप्त की। शृंगार-वर्णन और प्रकृति-सौंदर्य की अवतारणा उनकी मुख्य काव्य-प्रवृत्तियाँ हैं। 'प्रेमसम्पत्तिलता' (1885), 'श्यामालता' (1885), 'श्यामा-सरोजिनी' (1886) और 'देवयानी' (1886), इनकी प्रमुख रचनाएँ हैं। जगन्मोहनसिंह में काव्य-रचना की स्वाभाविक प्रतिभा थी और वे भावुक मनोवृत्ति के कवि थे। कल्पना-लालित्य, भावुकता, चित्र-शैली और सरस-मधुर ब्रजभाषा उनकी रचनाओं की अन्यतम विशेषताएँ हैं।

अम्बिकादत्त व्यास — काशी-निवासी कविवर दुर्गादत्त व्यास के पुत्र अम्बिकादत्त व्यास (1858-1900) सुकवि थे। वे संस्कृत और हिंदी के अच्छे विद्वान थे और दोनों भाषाओं में साहित्य-रचना करते थे। ये 'पीयूष-प्रवाह' पत्रिका का भी सम्पादन करते थे। 'पावस पचासा' (1886), 'सुकवि सतसई' (1887), और 'हो हो होरी' (1891) इनकी उल्लेखनीय रचनाएँ हैं। इनकी रचना ललित ब्रजभाषा में हुई है। उन्होंने खड़ी बोली में 'कंस-वध' (अपूर्ण) शीर्षक प्रबंधकाव्य की रचना भी आरम्भ की थी, किन्तु इसके केवल तीन सर्ग ही लिखे जा सके। इन्होंने समस्यापूर्तियाँ भी लिखी हैं। उनकी भारतीय संस्कृति में गहन आस्था थी। उन्होंने सरल और कोमल-कान्त पदावली के प्रयोग को वरीयता दी।

राधाकृष्णदास — भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के फुफेरे भाई राधाकृष्णदास (1865-1907) बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे। कविता के अतिरिक्त उन्होंने नाटक, उपन्यास और आलोचना के क्षेत्रों में भी उल्लेखनीय साहित्य-रचना की है। उनकी कविताओं में भक्ति, शृंगार और समकालीन सामाजिक-राजनीतिक चेतना को विशेष स्थान प्राप्त हुआ है। 'भारत-बारहमासा' और 'देश-दशा' समसामयिक भारत के विषय में उनकी प्रसिद्ध कविताएँ हैं। इनकी कुछ कविताएँ 'राधाकृष्णदास ग्रंथावली' में संकलित हैं। उन्होंने भी खड़ी बोली और ब्रजभाषा में अपनी कविताएँ रची हैं।

अन्य कवि — भारतेन्दु काल के इनके अतिरिक्त अन्य कवियों का योगदान भी स्मरणीय है। इनकी रचनाओं में भक्तिभावना और शृंगार-वर्णन की प्रमुखता रही है। इस संदर्भ में नवनीत चतुर्वेदी (1868-1919) का नाम आता है। इनकी प्रसिद्ध कृति 'कुब्जा पचीसी' रीति-पद्धति की सरस रचना है। इनके शिष्यों में जगन्नाथदास 'रत्नाकर' ने आगे चलकर विशेष ख्याति प्राप्त की। गोविन्द गिल्लाभाई ने इस काल में 'शृंगार सरोजिनी', 'पावस पयोनिधि', 'राधामुख षोडसी' और 'षड्भ्रतु' भक्ति और प्रेम-वर्णन संबंधी रचनाएँ लिखीं। दिवाकर भट्ट कृत 'नखशिख' (1884) और 'नवोदरत्न' (1888) भी रीति-पद्धति की रचनाएँ हैं। रामकृष्ण वर्मा 'बलवीर' ने 'बलवीर पचासा' लिखी। राजेश्वरीप्रसाद सिंह 'प्यारे' का 'प्यारे प्रमोद' भी शृंगार परक कविता है। गुलाबसिंह की 'प्रेम सतसई' और राव कृष्णदेवशरण सिंह 'गोप' का 'प्रेम-सन्देश' भी शृंगारपरक कृतियाँ हैं। इस

काल में शृंगार के अतिरिक्त अन्य विषयों पर भी कविताएँ लिखी गईं। इनमें राधाचरण गोस्वामी की 'नव भक्तमाल', गोविन्द गिल्लाभाई की 'नीति विनोद' और दुर्गादत्त व्यास के 'अधमोद्धारक शतक' भी प्रसिद्ध हैं।

भारतेन्दु युग पुरातन और नवीन के सन्धि-स्थल पर स्थित है। इस युग की उपलब्धि यह है कि इसके पूर्व रीतिकाल शृंगार की प्रवृत्ति पर बल रहा था, उसके स्थान पर कविगण समाज और राष्ट्र के उद्बोधन देने वाली लोकमंगलकारी दृष्टि की ओर उन्मुख होने लगे, जिसकी पूर्ण परिणति आगे चलकर द्विवेदी-युग में लक्षित हुई।

भारतेन्दु युग का गद्य साहित्य –

भारतेन्दु-युग में अर्थात् उन्नीसवीं शती के अन्तिम चरण में पूरे देश में सांस्कृतिक जागरण की लहर दौड़ चुकी थी। सामन्तीय ढाँचा टूट चुका था। अंग्रेजी शिक्षा के विकास की गति चाहे जितनी धीमी रही हो और उसके उद्देश्य चाहे जितने सीमित रहे हों, उसका व्यापक प्रभाव देश के शिक्षित समाज पर पड़ रहा था। भारत में राष्ट्रीय एवं सामाजिक सोच विकसित हो रही थी। सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, राजनीतिक क्षेत्र में परिवर्तन और सुधार की आवश्यकता थी। भारतेन्दु इसी प्रगतिशील चेतना के प्रतिनिधि थे। उन्होंने अपने साहित्य के माध्यम से ठीक समय पर उचित नेतृत्व प्रदान किया और अपने निबन्धों, नाटकों तथा भाषणों में जागरण का संदेश दिया। उनके सहयोगियों और समर्थकों ने उनके द्वारा प्रशस्त पथ पर चलकर हिंदी की जो सेवा की वह अविस्मरणीय है। भारतेन्दुकालीन साहित्य सांस्कृतिक जागरण का साहित्य है। इस युग में गद्य की लगभग सभी विधाओं नाटक, उपन्यास, कहानी, निबन्ध, आलोचना आदि सभी का विकास एवं लेखन हुआ।

नाटक

हिंदी नाटकों का आरंभ हरिश्चन्द्र से ही माना जाना चाहिए। इसके पूर्व प्राणचन्द्र चौहान का 'रामायण महानाटक' (1610), लछिराम का 'करुणाभरण' (1657), नेवाज का 'शकुन्तला' (1680), महाराज विश्वनाथसिंह का 'आनन्द रघुनन्दन' (1700 ई.), रघुराय नागर का 'सभासार' (1700) उदय का 'रामकरुणाकर' एवं 'हनुमान नाटक' (1840) का उल्लेख मिलता है। जो नाटकीय तत्वों की दृष्टि से खरे नहीं उतरते।

इसके पश्चात् भारतेन्दु के पिता गोपालचन्द्र गिरिधरदास ने 'नहुष' (1857) नाटक लिखा किन्तु वह ब्रजभाषा में लिखा गया। गणेश कवि ने 'प्रद्युम्न विजय' नाटक (1863) लिखा जो पद्यबद्ध है तथा संस्कृत नाटक का अनुवाद था। शीतलाप्रसाद त्रिपाठी ने 'जानकी मंगल' (1868) नाटक लिखा इसकी भाषा परिमार्जित खड़ीबोली थी।

इसके बाद भारतेन्दु का उदय हो चुका था। भारतेन्दु अपने युग के श्रेष्ठ नाटककार थे। उन्होंने अनुदित और मौलिक नाटक लिखे। उन्होंने 1. विद्यासुन्दर (1868) लिखा, जो संस्कृत 'चौरपंचाशिका' के बंगला-संस्करण का हिंदी रूपान्तरण था। इसके अतिरिक्त भारतेन्दु ने 2. रत्नावली (1868) संस्कृत से अनुवाद, 3. पाखण्ड विडम्बन (1872) कृष्ण मिश्र के 'प्रबोध-चन्द्रोदय' के

नाटक का अनुवाद), 4.धनंजय विजय (1873 कांचन कवि के संस्कृत-नाटक का अनुवाद), 5. कर्पूरमंजरी (1875 सट्टक, कांचन के संस्कृत-नाटक का अनुवाद), 6.भारत जननी (1877 नाट्यगीत), 7.मुद्राराक्षस (1878 विशाखदत्त के संस्कृत नाटक का अनुवाद), 8.दुर्लभ बन्धु (1873 प्रहसन), 10.सत्य हरिश्चन्द्र (1875), 11.श्री चन्द्रावली (1876 नाटिका), 12. विषस्य विषमौषधम् (1876 भाण), 13.भारत दुर्दशा (1880 नाट्यरासक), 14.नीलादेवी (1881 गीतिरूपक), 15.अंधेर नगरी (1881 प्रहसन), 16.सती प्रताप (1883 गीतिरूपक), 17.प्रेमजोगिनी (1875, नाटिका) नाटक लिखे।

इस युग में पौराणिक, ऐतिहासिक, रोमानी एवं समसामयिक समस्याओं को लेकर नाटक लिखे गए। ऐतिहासिक नाटकों में भारतेन्दु का 'नीलदेवी', श्रीनिवासदास का 'संयोगिता स्वयंवर', राधाचरण गोस्वामी का 'अमर सिंह राठौर' तथा राधाकृष्णदास का 'महाराणा प्रताप' उल्लेखनीय है। रोमानी नाटकों में श्रीनिवासदास का 'रणधीर प्रेममोहिनी' और 'तप्ता संवरण', किशोरीलाल गोस्वामी का 'प्रणयिनी परिणय' और 'मयंक मंजरी', शालिग्राम शुक्ल का 'लावण्यवती सुदर्शन' उल्लेखनीय है। 'रणधीर प्रेममोहिनी' को विशेष प्रसिद्धि प्राप्त हुई। समसामयिक समस्याओं पर लिखे नाटकों में भारतेन्दु का 'भारत-दुर्दशा', बालकृष्ण भट्ट का 'नई रोशनी का विष', खड्गबहादुर मल्ल का 'भारत आरत', अम्बिकादत्त व्यास का 'भारत-सौभाग्य' राधाकृष्णदास का 'दुःखिनी बाला', गोपालराम गहमरी का 'देश-दशा' उल्लेखनीय है।

उपन्यास

इस युग में उपन्यास भी खूब लिखे गए एवं सभी विषयों को लेकर लिखे गए। अंग्रेजी ढंग का पहला मौलिक उपन्यास लाला श्रीनिवासदास का 'परीक्षागुरु' (1892) माना जाता है। इसके पूर्व श्रद्धाराम फुल्लौरी ने 'भाग्यवती' (1877) शीर्षक लघु सामाजिक उपन्यास लिखा था। इस युग के उपन्यासकारों में लाली श्रीनिवासदास (1851-1887), किशोरीलाल गोस्वामी (1865-1932), बालकृष्ण भट्ट (1844-1914), ठाकुर जगन्मोहन सिंह (1857-1899), राधाकृष्णदास (1865-1907), लज्जाराम शर्मा (1863-1931), देवकीनन्दन खत्री (1861-1913) और गोपालराम गहमरी (1866-1946) प्रमुख हैं।

भारतेन्दु काल में सामाजिक, ऐतिहासिक, तिलस्मी-ऐयारी, जासूसी तथा रोमानी उपन्यासों की रचना खूब हुई। सामाजिक उपन्यासों में 'भाग्यवती' और 'परीक्षागुरु' के अतिरिक्त बालकृष्ण भट्ट का 'रहस्यकथा', 'नूतन ब्रह्मचारी' और 'सौ अजान एक सुजान', राधाकृष्णदास का 'निस्सहाय हिन्दू', लज्जाराम शर्मा का 'धूर्त रसिकलाल' और 'स्वतंत्र रमा और परतन्त्र लक्ष्मी', तथा किशोरीलाल गोस्वामी का 'त्रिवेणी वा सौभाग्यश्रणी' विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

तिलस्मी-ऐयारी के उपन्यासों में देवकीनन्दन खत्री का 'चन्द्रकान्ता', 'चन्द्रकान्ता सन्तति', 'नरेन्द्र मोहिनी', 'वीरेन्द्र वीर' और 'कुसुमकुमारी' तथा हरेकृष्ण जौहर का 'कुसुमलता' प्रसिद्ध हुए। इस युग के सर्वप्रधान उपन्यास लेखक किशोरीलाल गोस्वामी माने गए हैं। इस युग में बंगला और अंग्रेजी के उपन्यासों का अनुवाद भी बहुत हुआ।

कहानी

इस युग में आधुनिक कलात्मक कहानी का आरंभ नहीं हुआ था। कहानियों के नाम पर कुछ प्रकाशित संग्रह प्राप्त हैं, जैसे – मुंशी नवलकिशोर द्वारा सम्पादित 'मनोहर कहानी' (1880) में संकलित एक सौ कहानियाँ, अम्बिकादत्त व्यास का 'कथा कुसुम कलिका' (1888), राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द का 'वामा मनोरंजन' (1886) और चण्डीप्रसाद सिंह का 'हास्य रतन' (1886) आदि। वस्तुतः ये लोक-प्रचलित तथा इतिहास-पुराण-कथित शिक्षा नीति या हास्य-प्रधान कथाएँ हैं जिन्हें तत्कालीन लेखकों ने स्वयं लिखकर या लिखवाकर सम्पादन करके प्रकाशित करा दिया।

निबन्ध

भारतेन्दु युग में सबसे अधिक सफलता निबन्ध लेखन में प्राप्त हुई। निबन्धों का संबंध पत्र-पत्रिकाओं से सीधे जुड़ा हुआ था। इस युग में राजनीति, समाज-सुधार, धर्म-अध्यात्म, आर्थिक दुर्दशा, अतीत का गौरव, महापुरुषों की जीवनियाँ आदि विषयों पर निबन्ध लिखे गए। इस युग के लेखकों ने पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से निबन्ध विधा को खूब समृद्ध किया।

बालकृष्ण भट्ट और प्रतापनारायण मिश्र ने इस विधा को और भी विकसित और समृद्ध किया। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने तो इन्हें हिंदी का 'स्टील' और 'एडीसन' कहा है। भारतेन्दु युग के अन्य प्रमुख निबन्धकार थे – भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट, बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', लाला श्रीनिवासदास, राधाचरण गोस्वामी, काशीनाथ खत्री आदि। इन सभी निबन्धकारों का संबंधी किसी न किसी पत्र-पत्रिका से था। भारतेन्दु ने 'हरिश्चन्द्र मैगजीन', प्रतापनारायण मिश्र ने 'ब्राह्मण', बालकृष्ण भट्ट ने 'हिन्दी प्रदीप', बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' ने 'आनन्दकादम्बिनी', श्रीनिवासदास ने 'सदादर्श' और राधाचरण गोस्वामी ने 'भारतेन्दु' का सम्पादन किया था। बालकृष्ण भट्ट इस युग के सर्वाधिक समर्थ निबन्धकार थे। उन्होंने सामयिक समस्याओं पर जमकर लिखा। 'बालविवाह', 'स्त्रियाँ और उनकी शिक्षा', 'राजा और प्रजा', 'कृषकों की दुरावस्था', 'अंग्रेजी शिक्षा और प्रकाश', 'हमारे नये सुशिक्षितों में परिवर्तन', 'देश-सेवा-महत्त्व', 'महिला-स्वातंत्र्य' आदि निबन्ध इसी प्रकार के हैं। इनके अतिरिक्त उन्होंने मनोभावों से संबंधित निबन्ध भी लिखे। इस युग में विचारात्मक, भावात्मक, वर्णनात्मक, विवरणात्मक, कथात्मक, इतिवृत्तात्मक, अनुसन्धानात्मक एवं भाषण आदि सभी शैलियों के निबन्ध लिखे गए।

आलोचना

भारतेन्दु युग में हिंदी आलोचना का आरंभ पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से हुआ। 'हिंदी प्रदीप' एक ऐसा पत्र था जो गम्भीर आलोचनाएँ प्रकाशित करता था। वस्तुतः भारतेन्दु युग में आधुनिक आलोचना का रूप यदि कहीं बीज-रूप में सुरक्षित है तो वह पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित पुस्तक-समीक्षाओं में ही है। इस क्रम में सबसे पहला उल्लेखनीय नाम बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' का है। उन्होंने श्रीनिवासदास कृत 'संयोगिता स्वयंवर' और गदाधर सिंह कृत 'बंग विजेता' के अनुवादों की विस्तृत आलोचना 'आनन्दकादम्बिनी' में की थी। इसके बाद बालकृष्ण भट्ट और बालमुकुन्द गुप्त ने इस परंपरा को आगे बढ़ाया। भट्ट जी की 'नीलदेवी', 'परीक्षा गुरु', 'संयोगिता स्वयंवर' और 'एकान्तवासी योगी' संबंधी आलोचनाएँ तत्कालीन समीक्षा-साहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान

रखती है। बालमुकुन्द गुप्त द्वारा लिखित आलोचनाएँ भी इसी परंपरा को आगे बढ़ाने वाली हैं, किन्तु उनका कृतित्व बहुत-कुछ द्विवेदी-युग की सीमा में जाता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिंदी गद्य साहित्य के विकास क्रम में भारतेन्दु युग के गद्य साहित्यकारों का महत्त्व एवं योगदान असाधारण है। इसी युग में हिंदी प्रदेश में आधुनिक जीवन चेतना का उन्मेष हुआ। हिंदी गद्य की प्रायः सभी विधाओं का सूत्रपात इसी युग में हुआ। भारतेन्दु काल का साहित्य व्यापक जागरण का संदेश लेकर आया और भाषा के स्वरूप विकास में भी अभूतपूर्व प्रगति हुई।

द्विवेदी युग –

इस युग को जागरण-सुधार-काल भी कहते हैं। इस काल के पथ प्रदर्शक आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी जी के नाम पर इस युग को 'द्विवेदी युग' कहा गया। 1858 के विद्रोह के पश्चात् महारानी विक्टोरिया के सहृदयतापूर्ण घोषणा-पत्र ने भारतीयों में कुछ आशा जगाई थी किन्तु बाद में वे आशाएँ खरी नहीं उतरतीं। फलस्वरूप जनता में असंतोष और क्षोभ की आग भड़कती चली गई। आर्थिक दृष्टि से भी अंग्रेजों की नीति भारत के लिए अहितकर थी। यहाँ से कच्चा माल बाहर जाता था और वहाँ के बने माल की खपत भारत में होती थी। देश का धन निरन्तर बाहर जाने से भारत निर्धन हो गया। इस कारण असंतोष फैला। पूरे भारत में आंदोलन होने लगे। देश को गोपालचन्द्र गोखले तथा बालगंगाधर तिलक जैसे नेता मिले। भारतेन्दु युग में जहाँ भारत की दुर्दशा का दुःख प्रकट करके चुप रह गए वहाँ द्विवेदीकालीन कवि-मनीषियों ने देश की दुर्दशा के चित्रण के साथ-साथ देशवासियों को स्वतंत्रता प्राप्ति की प्रेरणा भी दी।

काव्यधारा

यद्यपि भारतेन्दु काल में ब्रजभाषा के अतिरिक्त खड़ी बोली में भी रचनाएँ की जाने लगी थीं किन्तु उसे काव्योपयुक्त नहीं समझा गया। सुयोग से इसी समय जनता की रुचि एवं आकांक्षाओं के पारखी तथा साहित्य के दिशा-निदेशक आचार्य के रूप में पंडित महावीर प्रसाद द्विवेदी का प्रादुर्भाव हुआ। जून 1900 की 'सरस्वती' में प्रकाशित 'हे कविते' शीर्षक अपनी कविता में उन्होंने जनरुचि का प्रतिनिधित्व करते हुए ही ब्रजभाषा के प्रयोग पर क्षोभ प्रकट किया था। सन् 1903 में आचार्य द्विवेदी 'सरस्वती' के सम्पादक बने। उन्होंने नायिकाभेद को छोड़कर विविध विषयों पर कविताएँ लिखने के लिए कवियों को प्रेरित किया। उनकी प्रेरणा और प्रोत्साहन के परिणामस्वरूप कई कवि आगे आए जिनमें मैथिलीशरण गुप्त, गोपालशरण सिंह, गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही', लोचनप्रसाद पाण्डेय प्रमुख हैं। कुछ कवियों ने भी अपना रास्ता बदला जो परंपरागत ब्रज में अपनी कविताएँ लिख रहे थे, जिनमें अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', नाथूराम शर्मा 'शंकर' तथा राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' प्रमुख हैं। इस युग की कविता में विषय की दृष्टि से विविधता और नवीनता आई। द्विवेदी जी के प्रयत्नों से खड़ीबोली काव्य की मुख्य भाषा बन गई। द्विवेदी जी भाषा की शुद्धि एवं वर्तनी की एकरूपता के प्रबल समर्थक थे। अतएव उन्होंने काव्य-भाषा का व्याकरण की दृष्टि से

परिमार्जन किया। आचार्य द्विवेदी जी ने समस्यापूर्ति को छोड़ने तथा स्वतंत्र विषयों पर कविता लिखने का भी परामर्श दिया।

द्विवेदीकालीन कविता में प्रमुख रूप से राष्ट्रीयता की भावना, सामान्य भावना, नीति और आदर्श, वर्ण्य विषय का क्षेत्र-विस्तार, हास्य-व्यंग्यपूर्ण काव्य, सभी काव्य रूपों का प्रयोग, भाषा-परिवर्तन, छन्द-वैविध्य आदि बिन्दु उभर कर सामने आए हैं।

प्रमुख कवि

नाथूराम शर्मा 'शंकर' (1859-1932) - इनका जन्म हरदुआगंज, जिला अलीगढ़ में हुआ था। ये हिंदी, उर्दू, फारसी तथा संस्कृत के अच्छे ज्ञाता थे। इन्होंने 'सरस्वती' के मुख्य कवियों में स्थान पाया। देश-प्रेम, स्वदेशी-प्रयोग, समाज-सुधार, हिंदी-अनुराग, तथा विधवाओं तथा अछूतोंद्वारा इनकी कविताओं के मुख्य विषय रहे। सामाजिक कुरीतियों, आडम्बरों, अंधविश्वासों, बाल-विवाह आदि पर इन्होंने बड़े तीखे व्यंग्य किए। 'अनुरागरत्न', 'शंकर-सरोज', 'गर्भरण्डा-रहस्य' तथा 'शंकर-सर्वस्व' इनके प्रमुख काव्य ग्रंथ हैं।

श्रीधर पाठक (1859-1927) - इनका जन्म आगरा जिले के जोंघरी गाँव में हुआ था। खड़ीबोली के तो ये प्रथम समर्थ कवि भी कहे जा सकते हैं। इन्होंने 'सरस्वती' से पूर्व ही खड़ीबोली में कविताएँ लिखकर अपनी स्वच्छन्द वृत्ति का परिचय दिया था। देश-प्रेम, समाजसुधार तथा प्रकृति चित्रण इनकी कविता के मुख्य विषय रहे। इनका सर्वाधिक सफलता प्रकृति चित्रण में मिली। इन्होंने रूढ़ि का परित्याग कर प्रकृति का स्वतंत्र रूप में मनोहारी चित्रण किया है। पाठक जी कुशल अनुवादक भी थे। इन्होंने कालिदास की 'ऋतुसंहार' और गोल्डस्मिथ की 'हरमिट', 'डेजर्टेड विलेज' तथा 'द ट्रैवेलर' का 'एकान्तवासी योगी', 'ऊजड़ ग्राम' और 'श्रान्त पथिक' शीर्षक से काव्यानुवाद किया। इनकी मौलिक कृतियों में 'वनाष्टक', 'कश्मीर सुषमा', 'देहरादून' और 'भारत गीत' विशेष उल्लेखनीय हैं।

महावीर प्रसाद द्विवेदी (1864-1938) - इनका जन्म जिला रायबरेली के दौलतपुर नामक ग्राम में हुआ था। इन्होंने रेलवे में नौकरी की किन्तु अधिकारियों के साथ कहासुनी होने पर नौकरी से त्यागपत्र दे दिया। सन् 1903 में ये 'सरस्वती' पत्रिका के संपादक बने और 1920 तक बड़े परिश्रम और लगन से यह कार्य करते रहे। 'सरस्वती' के संपादक के रूप में इन्होंने हिंदी भाषा और साहित्य के उत्थान के लिए जो कार्य किया, वह चिरस्मरणीय रहेगा। ये कवि, आलोचक, निबंधकार, अनुवादक तथा सम्पादकाचार्य थे। इनके मौलिक गद्य-पद्य ग्रंथों की संख्या लगभग 80 है। गद्य लेखन के क्षेत्र में इन्हें विशेष सफलता मिली। 'काव्य-मंजूषा', 'सुमन', 'कान्यकुब्ज-अबला-विलाप' (मौलिक पद्य), 'गंगालहरी', 'ऋतु-तरंगिणी', 'कुमारसम्भवसार' (अनुदित) द्विवेदी जी की उल्लेखनीय रचनाएँ हैं। इनकी कविता सहज, सरल और प्रायः उद्देश्यपूर्ण होती थी।

अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' (1865-1947) - हरिऔध जी द्विवेदी युग के प्रख्यात कवि होने के साथ-साथ उपन्यासकार, आलोचक एवं इतिहासकार भी थे। इनका जन्म निजामाबाद, जिला आजमगढ़ में हुआ था। 1923 में सरकारी नौकरी से अवकाश ग्रहण कर शेष जीवन

साहित्य-सेवा को समर्पित कर दिया। इनका काव्य ग्रंथों में 'प्रियप्रवास'(1914), 'पद्यप्रसून' (1924), 'चुभते चौपदे', 'चोखे चौपदे' (1932), 'बोलचाल', 'रसकलश' तथा 'वैदेही-वनवास' (1940) प्रसिद्ध हैं। इनमें से 'प्रियप्रवास' खड़ीबोली में लिखा गया प्रथम महाकाव्य है। 'प्रियप्रवास' पर इन्हें हिंदी का सर्वोत्तम पुरस्कार 'मंगलाप्रसाद पारितोषिक' प्रदान किया गया।

राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' (1868-1914) - इनका जन्म जबलपुर में हुआ था। इन्होंने देशभक्ति आदि नवीन विषयों पर खड़ीबोली में काव्य-रचना की। इन्होंने कालीदास की 'मेघदूत' का 'धाराधरधावन' नाम से अनुवाद किया। 'मृत्यंजय' (1904), 'राम-रावण-विरोध' (1906), तथा 'वसन्त-वियोग' (1912) इनकी उल्लेखनीय काव्य-कृतियाँ हैं।

गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' (1883-1972) - इनका जन्म उन्नाव जिले के कहड़ा ग्राम में हुआ था। ये खड़ीबोली में कवित्त और सवैया छन्दों का प्रयोग करने में सिद्धहस्त थे। इन्होंने अनेक प्रयाण-गीत और बलिदान-गीत लिखे। पराधीन देश की दुर्दशा, आर्थिक विषमता, अस्पृश्यता आदि विषयों पर भी इन्होंने मार्मिक एवं प्रभावी कविताएँ लिखीं। ये 'सुकवि' नामक काव्य-पत्रिका के संपादक भी रहे। 'कृषक-क्रन्दन', 'प्रेम-पचीसी', 'राष्ट्रीय वीणा', 'त्रिशूल तरंग', 'करुणा-कादम्बिनी' आदि इनकी मुख्य काव्य-रचनाएँ हैं।

मैथिलीशरण गुप्त (1886-1964) - इनका जन्म चिरगांव (झांसी) में हुआ था। ये द्विवेदी काल के सर्वाधिक लोकप्रिय कवि थे। द्विवेदी के स्नेह और प्रोत्साहन से इनकी काव्य-कला में निखार आया। इनकी प्रथम पुस्तक 'रंग में भंग' (1909) है किन्तु इनकी ख्याति का मूलाधार 'भारत-भारती' (1912) है। उत्तर-भारत में राष्ट्रीयता के प्रचार और प्रसार में 'भारत-भारती' के योगदान को विस्मृत नहीं किया जा सकता। 'भारत-भारती' ने हिंदी-मनीषियों में जाति और देश के प्रति गर्व और गौरव की भावनाएँ उत्पन्न की और तभी से ये राष्ट्रकवि के रूप में विख्यात हुए। ये रामभक्त कवि भी थे। 'मानस' के पश्चात् हिंदी में रामकाव्य का दूसरा स्तम्भ इनके द्वारा रचित 'साकेत' ही है। खड़ीबोली के स्वरूप-निर्धारण और विकास में इनका अन्यतम योगदान है। गुप्त जी के प्रमुख काव्य ग्रंथ हैं - 'जयद्रथ वध' (1910), 'भारत-भारती' (1912), 'पंचवटी' (1925), 'झंकार' (1929), 'साकेत' (1931), 'यशोधरा' (1932), 'द्वापर' (1936), 'जयभारत' (1952), 'विष्णुप्रिया' (1957) आदि। 'प्लासी का युद्ध', 'मेघनाद-वध', 'वृत्र-संहार', आदि इनके अनूदित काव्य हैं।

रामनरेश त्रिपाठी (1889-1962) - इनका जन्म जिला जौनपुर के अन्तर्गत कोहरीपुर ग्राम में हुआ। ये 'सरस्वती' पत्रिका के प्रभावस्वरूप खड़ीबोली की ओर प्रवृत्त हुए। इनके चार ग्रंथ प्रकाशित हुए - 'मिलन' (1917), 'पथिक' (1920), 'मानसी' (1927), 'स्वप्न' (1929)। इनमें से 'मानसी' इनकी फुटकर कविताओं का संग्रह है जो मुख्यतः देशप्रेम, प्रकृति-चित्रण और नीति-निरूपण से सम्बद्ध है। 'मिलन', 'पथिक' और 'स्वप्न' काल्पनिक कथाश्रित प्रेमाख्यानक खण्डकाव्य हैं।

इनके अतिरिक्त बालमुकुन्द गुप्त, भगवानदीन, अमीर अली 'मीर', कामताप्रसाद गुरु, गिरिधर शर्मा 'नवरत्न', रूपनारायण पाण्डेय, लोचनप्रसाद पाण्डेय, गोपाल शरण सिंह, मुकुटधर पाण्डेय भी इस युग के उल्लेखनीय कवि हैं।

द्विवेदीयुगीन काव्य सांस्कृतिक पुनरुत्थान, उदार राष्ट्रीयता, जागरण-सुधार एवं उच्चादर्शों का काव्य है। इस युग में सभी काव्य-रूपों का सफल प्रयोग हुआ है। खड़ीबोली के स्वरूप-निर्धारण और विकास का श्रेय भी इसी कालखण्ड को जाता है।

गद्य साहित्य

इस युग में गद्य साहित्य भी प्रचुर मात्रा में लिखा गया। गद्य की लगभग सभी विधाओं का इस काल में विकास हुआ। साहित्यकारों के मन पर राष्ट्र की प्रत्येक महत्त्वपूर्ण घटना का प्रभाव पड़ा और उनकी रचनाओं में राष्ट्रीय चेतना प्रतिबिम्बित हुई। इस युग में साहित्य की प्रत्येक विधा में व्यापक राष्ट्रीय जागरण एवं सुधार की भावना विद्यमान है।

नाट्य साहित्य

द्विवेदी युग में नाटक अपेक्षाकृत कम ही लिखे गए। इस काल के नाटकों को छः वर्गों में विभक्त किया जा सकता है – (क) पौराणिक नाटक, (ख) ऐतिहासिक नाटक, (ग) सामयिक उपादानों पर रचित नाटक, (घ) रोमांचकारी नाटक (ङ) प्रहसन और (च) अनूदित नाटक।

राम और कृष्ण से संबंधित पौराणिक नाटकों में राधाचरण गोस्वामी का 'श्रीदामा' (1904), शिवनंदन सहाय का 'सुदामा' (1907) और नारायण मिश्र का 'कंसवध' (1910), रामनारायण मिश्र का 'जनक बाड़ा' (1906), गंगाप्रसाद का 'रामाभिषेक' (1910), गिरधारीलाल का 'राम-वनयात्रा' (1910), नारायणसहाय का 'रामलीला' (1911), रामगुलामलाल का 'धनुषयज्ञ लीला' (1912) उल्लेखनीय हैं। अन्य पौराणिक नाटकों में महावीर सिंह का 'नल-दमयन्ती' (1905), बालकृष्ण भट्ट का 'वेणुसंहार' (1909), लक्ष्मीप्रसाद का 'उर्वशी' (1910), जयशंकर प्रसाद का 'करुणालय' (1912), माखनलाल चतुर्वेदी का 'कृष्णार्जुन-युद्ध' (1918) उल्लेखनीय हैं। ये नाटक उपदेशात्मक अधिक हैं।

ऐतिहासिक नाटकों में गंगाप्रसाद गुप्त का 'वीर जयमल' (1903), वृंदावनलाल वर्मा का 'सेनापति उदल' (1909), बद्रीनाथ भट्ट का 'चन्द्रगुप्त' (1915), जयशंकर प्रसाद का 'राज्यश्री' (1915) उल्लेखनीय हैं। वस्तुतः हिंदी साहित्य में ऐतिहासिक नाटकों का सूत्रपात प्रसाद से ही हुआ है।

सामयिक उपादानों पर आधारित नाटकों में प्रतापनारायण मिश्र का 'भारत-दुर्दशा' (1902), भगवतीप्रसाद का 'वृद्ध-विवाह' (1905), जीवानन्द शर्मा का 'भारत-विजय' (1906), कृष्णानन्द जोशी का 'उन्नति कहां से होगी' (1915) और मिश्रबन्धु का 'नेत्रोन्मीलन' (1915) उल्लेखनीय हैं। इन नाटकों में तत्कालीन सामाजिक-राजनीतिक जीवन की विकृतियों को उभारने की चेष्टा की गई है।

रोमांचकारी नाटक मुख्यतः रोमांचकारी एवं अलौकिक घटनाओं के केन्द्र में रखकर पारसी रंगमंच की दृष्टि से लिखे गए। इन्हें मंचीय नाटक भी कहा गया है। ये व्यवसायी नाटक-मण्डलियों के लिए लिखे गए। रोमांचकारी नाटकों में मोहम्मद मिया का 'रौनक', हुसैन मिया का 'जरीफ', मुंशीविनायक प्रसाद का 'तालिब', सैयद मेहंदी हसन का 'अहसान' आगा मोहम्मद का 'हश्र'

उल्लेखनीय है। इन नाटककारों में राधेश्याम कथावाचक का नाम महत्त्वपूर्ण है। इन्होंने अपने नाटकों को चमत्कारपूर्ण बनाने के लिए परदों की तड़क-भड़क और वेश-भूषा की चमक-दमक के साथ दृश्यों में अद्भुत तत्वों का समावेश किया जैसे— आकाश-मार्ग से देवताओं का जाना, तारों का टूटना, पुष्पवर्षा करना, खम्भों का टूटना और उनमें से पात्रों का निकलना आदि।

इस युग में प्रहसन भी लिखे गए जिनमें बट्टीनाथ भट्ट का 'चुकी की उम्मीदवारी' (1912), गंगाप्रसाद श्रीवास्तव का 'उलटफेर' (1918), और 'नोक-झोंक' (1918) प्रमुख है।

इस युग में संस्कृत, अंग्रेजी और बंगला भाषा से कुछ नाटकों के अनुवाद भी हुए। संस्कृत से श्री सदानन्द अवस्थी ने 'नागानन्द' (1906), लाला सीताराम ने 'मृच्छकटिक' (1913) और कविरत्न सत्यनारायण ने 'उत्तररामचरित' का अनुवाद किया। फ्रांस के प्रसिद्ध नाटककार मोलियर के नाटकों को लल्लीप्रसाद पाण्डेय और गंगाप्रसाद श्रीवास्तव ने अंग्रेजी के माध्यम से अनुवाद किया।

उपन्यास

इस काल में उपन्यास नाटक की अपेक्षा अधिक लिखे गए। इस काल के लेखकों और पाठकों की प्रवृत्ति कुतूहल, रहस्य और रोमांच के माध्यम से मनोरंजन करने में अधिक रही है। सामाजिक जीवन की यथार्थ समस्याओं को लेकर गम्भीर उपन्यासों की रचना इस युग में कम हुई। इस युग में तिलस्मी-ऐयारी, जासूसी, अद्भुत घटनाप्रधान, ऐतिहासिक एवं सामाजिक उपन्यास अधिक लिखे गए।

तिलस्मी-ऐयारी उपन्यासों की परंपरा देवकीनन्दन खत्री (1861-1913) द्वारा भारतेन्दु युग में आरंभ की गई जो द्विवेदी युग में भी जीवित रही। खत्री जी के 'काजर की कोठरी' (1902), 'अनूठी बेगम' (1905), 'गुप्त गोदना' (1906), 'भूतनाथ'—प्रथम छह भाग (1906) आदि उपन्यास प्रकाशित हुए। हरेकृष्ण जौहर ने 'मयंकमोहिनी या मायामहल' (1901), 'कमलकुमारी' (1902), 'निराला नकाबपोश' (1902), 'भयानक खून' (1903) आदि तिलस्मी उपन्यास लिखे। किशोरीलाल गोस्वामी ने 'तिलस्मी शीशमहल' (1905) और रामलाल वर्मा 'पुतली महल' (1908) भी इसी वर्ग की रचनाएँ हैं। आगे चलकर देवकीनन्दन खत्री के सुपुत्र दुर्गाप्रसाद खत्री ने 'भूतनाथ' के शेष भागों को लिखकर इस परंपरा को आगे बढ़ाया।

जासूसी उपन्यासों का प्रवर्तन गोपालराम गहमरी (1866-1946) ने किया। गहमरी जी अंग्रेजी के प्रसिद्ध जासूसी उपन्यासकार आर्थर कानन डायल से प्रभावित थे। आर्थर के उपन्यास 'ए स्टडी इन स्कारलेट' (1887) का इन्होंने 'गोविन्दराम' (1905) नाम से अनुवाद किया। 'सरकटी लाश' (1900), 'चक्करदार चोरी' (1901), 'जासूस की भूल' (1901), 'जासूस पर जासूसी' (1904), 'जासूस चक्कर में' (1906), 'इन्द्रजालिक जासूस' (1910), 'गुप्त भेद' (1913), 'जासूस की ऐयारी' (1914) आदि उनके प्रसिद्ध जासूसी उपन्यास हैं।

अद्भुत घटनाप्रधान उपन्यासों में विट्ठलदास नागर का 'किस्मत का खेल' (1905), बांकलाल चतुर्वेदी का 'खौफनाक खेल' (1912), निहालचन्द वर्मा का 'प्रेम का फल या मिस जौहरा' (1913), प्रेमविलास वर्मा का 'प्रेममाधुरी या अनंगकान्ता' (1915) और दुर्गाप्रसाद खत्री का 'अद्भुत भूत' (1916) प्रमुख हैं।

इस युग में ऐतिहासिक उपन्यास भी लिखे गए परंतु इन उपन्यासों में इतिहास तत्वों की कमी थी। ये उपन्यास भी रहस्य एवं रोमांच से प्रेरित थे। ऐतिहासिक उपन्यासकारों में किशोरीलाल गोस्वामी (1865–1932) इस युग के सशक्त उपन्यासकार हैं। किशोरीलाल गोस्वामी के 'तारा वा क्षात्रकुलकमलिनी' (1902), 'सुल्ताना रजिया बेगम वा रंगमहल में हलाहल' (1904), 'मल्लिका देवी वा बंग सरोजिनी' (1905), और 'लखनऊ की कब्र व शाही महलसरा' (1917) चर्चित उपन्यास हैं। गंगाप्रसाद गुप्त ने 'नूरजहाँ' (1902), 'कुमारसिंह सेनापति' (1903) और 'हम्मीर' (1903) उपन्यास लिखे। जयरामदास गुप्त के 'काश्मीर पतन' (1907), 'नवाबी परिस्तान वा वाजिद अली शाह' (1909), 'मल्का चांद बीबी' (1909) आदि उपन्यास लिखे।

सामाजिक उपन्यासकारों में लज्जाराम शर्मा, किशोरीलाल गोस्वामी, अयोध्यासिंह उपाध्याय, ब्रजनन्दन सहाय, राजा राधिकारमणप्रसाद सिंह और मन्नन द्विवेदी उल्लेखनीय हैं। लज्जाराम शर्मा (1863–1931) के 'आदर्श दम्पति' (1904), 'बिगड़े का सुधार अथवा सती सुखदेवी' (1907), 'आदर्श हिन्दू' (1914) उपन्यासों का विशेष महत्त्व है। किशोरीलाल गोस्वामी के 'लीलावती वा आदर्श सती' (1901), 'चपला वा नव्य समाज' (1903–1904), 'पुनर्जन्म वा सौतिया डाह' (1907), 'माधवी माधव या मदनमोहिनी' (1903–1910) और 'अंगूठी का नगीना' (1918) उपन्यासों को विशेष ख्याति मिली। अयोध्यासिंह उपाध्याय ने 'अधखिला फूल' (1907) तथा 'ठेठ हिन्दी का ठाठ' (1899) लिखे। ब्रजनन्दन सहाय के 'सौन्दर्योपासक' (1911) और 'राधाकान्त' (1912) ये दो उपन्यास अधिक प्रसिद्ध हुए। मन्नन द्विवेदी का 'रामलाल' (1917) में ग्रामीण जीवन का सजीव और यथार्थ चित्रण मिलता है। राधिकारमणप्रसाद सिंह का 'नवजीवन वा प्रेमलहरी' (1916) प्रेमाकुलतापूर्ण भावात्मक उपन्यास है।

आगे चलकर इन सामाजिक उपन्यासों ने प्रेमचन्द की उपन्यास रचना के लिए मार्ग पुष्ट किया। सामाजिक उपन्यासों का लक्ष्य समाज-सुधार था। प्रेमचन्द भी इसी उद्देश्य से प्रेरित थे। उनके 'प्रेमा' (1907), 'रूठी रानी' (1907) और 'सेवासदन' (1918) इसी युग में प्रकाशित हुए।

कहानी

सन् 1900 के लगभग हिंदी कहानी का जन्म हुआ और 1912 से 1918 ई. के बीच वह पूर्णतः प्रतिष्ठित हो गई। 'सरस्वती' (1900) पत्रिका के प्रकाशन के साथ ही हिंदी कहानी का भी विकास हुआ। आरंभिक लेखकों में किशोरीलाल गोस्वामी, माधवप्रसाद मिश्र, बंगमहिला, रामचन्द्र शुक्ल, जयशंकर प्रसाद, वृन्दावनलाल वर्मा आदि उल्लेखनीय हैं। किशोरीलाल गोस्वामी की 'इन्दुमती' कहानी सरस्वती में 1900 ई. में प्रकाशित हुई। यह शेक्सपियर के 'टेम्पेस्ट' नाटक के आधार पर लिखी गई थी। सन् 1900 ई. में ही माधवप्रसाद मिश्र की 'मन की चंचलता' सुदर्शन पत्रिका में प्रकाशित हुई। 1902 ई. में 'सरस्वती' में ही भगवानदीन बी.ए. की 'प्लेग की चुड़ैल' कहानी प्रकाशित हुई। इनके अतिरिक्त 'सरस्वती' में रामचन्द्र शुक्ल की 'ग्यारह वर्ष का समय' (1903) और बंगमहिला की 'दुलाईवाली' (1907) कहानियाँ प्रकाशित हुईं।

ऐतिहासिक कहानी लेखकों में वृंदावन लाल वर्मा प्रमुख हैं। इन्होंने 1909 ई. में 'राखीबन्द भाई' लिखी। 1909 ई. में काशी से 'इन्दु' पत्रिका का प्रकाशन आरंभ हुआ। इसमें जयशंकर प्रसाद ने खूब कहानियाँ लिखीं। इनकी कहानियों का संग्रह 'छाया' नाम से सन् 1912 में प्रकाशित हुआ। राधिकारमण सिंह की कहानी 'कानों में कंगना' (1913) 'इंदु' में प्रकाशित हुई। कुछ समय पश्चात प्रेमचंद का आगमन हुआ। उनकी कहानियाँ सरस्वती में प्रकाशित हुईं जो इस प्रकार हैं – 'सौत' (1915), 'पंच परमेश्वर' (1916), 'सज्जनता का दण्ड' (1916), 'ईश्वरीय न्याय' (1917), 'दुर्गा का मन्दिर' (1917)।

चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी' की प्रसिद्ध कहानी 'उसने कहा था' सन् 1915 में 'सरस्वती' पत्रिका में छपी थी। इनके अतिरिक्त 'सरस्वती' में ही ज्वालादत्त शर्मा की 'मिलन', विश्वंभरनाथ शर्मा 'कौशिक' की 'रक्षा बंधन', पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी की 'झलमला' प्रकाशित हुईं। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि सन् 1900 के आस-पास हिंदी कहानी का जन्म हुआ और 1918 तक वह पूर्णतः प्रतिष्ठित हो गई। साहित्य में उसकी स्वतंत्र सत्ता मान्य हुई और इसका मौलिक रूप भी सामने आया।

निबंध

भारतेन्दु-युग में पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से निबंध-साहित्य की पूर्ण प्रतिष्ठा हो चुकी थी। इस युग के निबंध लेखकों में महावीरप्रसाद द्विवेदी, गोविन्दनारायण मिश्र, बालमुकुन्द गुप्त, माधवप्रसाद मिश्र, मिश्रबन्धु (श्यामबिहारी मिश्र और शुकदेवबिहारी मिश्र), सरदार पूर्णसिंह, चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी', जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी, श्यामसुन्दरदास, पद्मसिंह शर्मा, रामचन्द्र शुक्ल, कृष्णबिहारी मिश्र आदि उल्लेखनीय हैं।

महावीर प्रसाद द्विवेदी के निबंध परिचयात्मक या आलोचनात्मक टिप्पणियों के रूप में हैं। उनका 'म्युनिसिपैलिटी कारनामे' निबंध व्यंग्य शैली में लिखा है। 'आत्मनिवेदन', 'प्रभात', 'सुतापराधे जनकस्य दण्ड' आदि इनके अन्य चर्चित निबंध हैं। गोविन्दनारायण मिश्र अपनी पाण्डित्यपूर्ण, संस्कृतनिष्ठ, तत्समप्रधान समासबहुला, दीर्घ वाक्य-विन्यासपूर्ण गद्य-शैली के लिए जाने जाते हैं। बालमुकुन्द गुप्त (1965-1907) हिंदी साहित्य में 'शिवशम्भु का चिह्न' के लिए जाने जाते हैं। ये चिट्ठे 'भारतमित्र' पत्रिका में प्रकाशित हुए। माधवप्रसाद मिश्र के निबंध 'सुदर्शन' में प्रकाशित हुए। इनके निबंध 'पुष्पांजलि' (1916) में संकलित हैं।

सरदार पूर्ण सिंह (1881-1939) इस युग के श्रेष्ठ निबंधकार हैं। इन्होंने कुल छह निबंध लिखे और प्रसिद्ध हो गए। इन्होंने नैतिकता और सामाजिकता को लेकर निबंध लिखे। 'आचरण की सभ्यता', 'सच्ची वीरता', 'मजदूरी और प्रेम', 'पवित्रता' और 'कन्यादान' इनके प्रसिद्ध निबंध हैं। चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी' (1883-1920) की साहित्य क्षमता अप्रतिम थी। ये पुरातत्त्व के मान्य विद्वान थे। 'कछुवा धरम' और 'मारेसि मोहिं कुठांव' इनके बहुचर्चित निबंध हैं।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के श्रेष्ठ मनोवैज्ञानिक निबंध 1912 ई. से 1919 ई. तक 'नागरीप्रचारिणी पत्रिका' में प्रकाशित हुए थे। इनके 'भय और क्रोध', 'ईर्ष्या', 'घृणा', 'उत्साह', 'श्रद्धा-भक्ति', 'करुणा', 'लज्जा और ग्लानि' तथा 'लोभ और प्रीति' निबंध द्विवेदी युग में प्रकाशित

हुए। गणेशशंकर विद्यार्थी, मन्नन द्विवेदी, यशोदानन्दन अखौरी, केशवप्रसाद सिंह भी इस युग के चर्चित निबंधकार रहे। इस युग में समाज की हीनावस्था, आर्थिक विषमता, धार्मिक पतन और व्यापक राष्ट्रीय समस्याओं को लेकर निबंध लिखे गए। शैली की दृष्टि से इस युग में वर्णनात्मक, भावात्मक, विवरणात्मक, विचारात्मक, कथात्मक, शोधपरक आदि सभी शैलियों में निबंध लिखे गए।

आलोचना

इस युग में आलोचना का भी विकास हुआ। जगन्नाथप्रसाद 'भानु' ने 'काव्य प्रभाकर' (1910) तथा 'छंद सारावली' (1917) और लाला भगवानदीन ने 'अलंकार मंजूषा' (1916) नामक आलोचना लिखी। तुलनात्मक आलोचना का आरंभ 1907ई. में पद्मसिंह शर्मा ने बिहारी और सादी की तुलना द्वारा किया। इसी कड़ी में मिश्रबन्धुओं का 'हिन्दी नवरत्न' (1910) प्रकाशित हुआ। आगे चलकर लाला भगवानदीन और कृष्णबिहारी मिश्र ने बिहारी और देव पर आलोचना लिखी। अन्वेषण और अनुसन्धानपरक आलोचना का विकास 'नागरीप्रचारिणी पत्रिका' (1897) के प्रकाशन से हुआ। 'मिश्रबन्धु-विनोद' (1913) में भी शोधपरक दृष्टि को महत्त्व दिया गया।

'सरस्वती' के माध्यम से परिचयात्मक आलोचना का आरंभ हुआ। महावीर प्रसाद द्विवेदी जी ने 'सरस्वती' में परिचयात्मक आलोचना लिखीं। बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' ने 'संयोगिता स्वयंवर', बालकृष्ण भट्ट ने 'नीलदेवी', 'परीक्षागुरु' और 'संयोगिता स्वयंवर' पर व्याख्यात्मक आलोचना लिखी।

जीवनी

इस युग में जीवनी लेखन भी पर्याप्त हुआ। यह युग राष्ट्रीय चेतना का युग था। आजादी की अलख जगाने के लिए इस युग में महापुरुषों के जीवन पर आधारित जीवनियाँ लिखी गईं। महावीर प्रसाद द्विवेदी जी ने 'प्राचीन पंडित और कवि', (1918), 'संकवि संकीर्तन' (1924), 'चरित चर्चा' (1929) आदि जीवनी संग्रह लिखे। इस युग में आर्य समाज तथा अन्य महापुरुषों से संबंधित, राष्ट्रीय महापुरुषों से संबंधित, ऐतिहासिक महापुरुषों से संबंधित, विदेश के महापुरुषों से संबंधित तथा महिलाओं से संबंधित जीवनियाँ प्रचुर मात्रा में लिखी गईं। रामविलास सारदा ने 'आर्य धर्मेन्दु जीवन महर्षि', चिम्मनलाल वैश्य ने 'दयानन्द चरितामृत' (1904) और अखिलानन्द शर्मा ने 'दयानन्द दिग्विजय' (1910) नामक जीवनी लिखी।

राष्ट्रीय नेताओं से संबंधित जीवनियों में महादेव भट्ट 'लाजपत महिमा' (1907), पारसनाथ त्रिपाठी 'तपोनिष्ठ महात्मा अरविंद घोष' (1909), मुकुन्दीलाल वर्मा 'कर्मवीर गाँधी' (1913), सम्पूर्णानन्द 'धर्मवीर गाँधी' (1914), नन्दकुमार देव शर्मा 'महात्मा गोखले' (1914), बट्टीप्रसाद गुप्त 'दादाभाई नौरोजी' (1914), बृजबिहारी शुक्ल, 'मदनमोहन मालवीय' (1916), शीतलाचरण वाजपेयी 'रमेशचन्द्र दत्त' (1914), मातासेवक 'लोकमान्य तिलक का चरित्र' (1918) प्रमुख हैं।

ऐतिहासिक जीवनियों में कार्तिक प्रसाद खत्री की 'छत्रपति शिवाजी का जीवनचरित्र' 'लोकमान्य तिलक का चरित्र' (1901), बलदेवप्रसाद मिश्र की 'पृथ्वीराज चौहान' 'लोकमान्य तिलक

का चरित्र' (1902), देवीप्रसाद की 'महाराणा प्रतापसिंह' 'लोकमान्य तिलक का चरित्र' (1903) प्रमुख हैं।

विदेशी महापुरुषों पर लिखी जीवनियों में सिद्धेश्वर शर्मा की 'गैरीबाल्डी' 'लोकमान्य तिलक का चरित्र' (1901), उमापति दत्त शर्मा की 'नेपोलियन बोनापार्ट की जीवनी' 'लोकमान्य तिलक का चरित्र' (1905), नाथूराम प्रेमी ब्रह्मानन्द की 'जान स्टुअर्ट मिल' 'लोकमान्य तिलक का चरित्र' (1912) आदि प्रमुख हैं। राजस्थान के इतिहास लेखन में महत्त्वपूर्ण योग देने वाले कर्नल टॉड के संबंध में एक अन्य महत्त्वपूर्ण जीवनी गौरीशंकर ओझा ने 'कर्नल टॉड' (1902) शीर्षक से लिखी।

देशी-विदेशी महान् महिलाओं पर भी जीवनियाँ लिखी गईं, जिनमें गंगाप्रसाद गुप्त 'रानी भवानी' (1904), परमानन्द 'पतिव्रता स्त्रियों के जीवन चरित्र' (1904), हनुमन्त सिंह 'रमणीय रत्नमाला' (1907), पन्नालाल 'वीरपत्नी संयोगिता' (1912), यशोदादेवी 'आदर्श महिलाएँ' (1912), द्वारकाप्रसाद चतुर्वेदी 'ऐतिहासिक स्त्रियाँ' (1912) आदि प्रमुख हैं।

यात्रावृत्त

यात्रावृत्त के विकास की दृष्टि से भी आलोच्य युग महत्त्वपूर्ण है। इस युग की आलोचनाएँ पत्र-पत्रिकाओं और पुस्तकाकार रूप में प्रकाशित हुईं। स्वामी मंगलानन्द ने 'मारीशस-यात्रा' (मर्यादा, 1912), श्रीधर पाठक ने 'देहरादून-शिमला-यात्रा' (मर्यादा, जून-सितम्बर 1913), उमा नेहरू ने 'युद्ध-क्षेत्र की सैर' (गृहलक्ष्मी, 1914) और लोचनप्रसाद पाण्डेय ने 'हमारी यात्रा' (इन्दु, सितम्बर 1914) यात्रावृत्तांत लिखे।

पुस्तकाकार रूप में गोपालराम गहमरी ने 'लंका-यात्रा का विवरण' (1916), ठाकुर गदाधर सिंह ने 'चीन में तेरह मास' (1902), 'हमारी एडवर्ड तिलक यात्रा' (1903-04) नामक यात्रावृत्तांत लिखे। स्वामी सत्यदेव परिव्राजक इस युग के प्रमुख यात्रावृत्त लेखक थे। इनकी तीन कृतियाँ उपलब्ध हैं - 'अमरीका दिग्दर्शन' (1911), 'मेरी कैलास-यात्रा' (1915) तथा 'अमरिका भ्रमण' (1916)।

संस्मरण

इस युग में 'सरस्वती' पत्रिका में कुछ संस्मरण भी समय-समय पर छपे, जिनमें महावीर प्रसाद द्विवेदी के 'अनुमोदन का अन्त' (फरवरी, 1905), 'सभा की सभ्यता' (अप्रैल, 1907), 'विज्ञानाचार्य बसु का विज्ञान मन्दिर' (जनवरी 1918), रामकुमार खेमका 'इधर-उधर की बातें' (मई, 1918), जगद्बिहारी सेठ 'मेरी बड़ी छुट्टियों का प्रथम सप्ताह' (जून 1913), प्यारेलाल मिश्र 'लन्दन का फाग या कुहरा' (फरवरी 1908) प्रमुख हैं। पुस्तकाकार रूप में प्रकाशित संस्मरण-साहित्य की दृष्टि से 'हरिऔध जी के संस्मरण' ही इस युग की उल्लेखनीय कृति है।

छायावाद (1918-1936)

छायावाद का समय सन् 1918 से सन् 1938 तक माना जा सकता है। रामचन्द्र शुक्ल ने छायावाद का आरंभ सन् 1918 से माना है। इस काल के आस-पास साहित्य में एक नए मोड़ का

आरंभ हो गया था, जो पुरानी काव्य-पद्धति को छोड़कर एक नई पद्धति के निर्माण का सूचक था। निराला की 'जूही की कली' (1916) और पंत की 'पल्लव' की कुछ कविताएँ सन् 1920 के आसपास आ चुकी थीं। छायावाद के लगभग 20 सालों में विपुल साहित्य रचा गया। एक ओर प्रसाद, निराला आदि कवि भी इसी युग में हुए जिनका प्रधान लक्ष्य साहित्य-साधना था और दूसरी ओर माखनलाल चतुर्वेदी, रामनरेश त्रिपाठी, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' आदि रचनाकार भी हुए जो अपने युग के आंदोलनों में सक्रिय भाग लेते थे और कविताएँ भी करते थे। इनकी काव्य साधना जीवन को केंद्र बनाकर चलती थी। इनके अतिरिक्त बच्चन, नरेन्द्र शर्मा और अंचल की अनेक रचनाएँ भी इस युग में रची गईं।

छायावाद के इस काल में कवित्व की दृष्टि से अनुभूति की तीव्रता, सूक्ष्मता और अभिव्यंजना-शिल्प के उत्कर्ष की दृष्टि से यह काव्य श्रेष्ठ है। इस काल के काव्य में प्राचीन भारतीय परंपरा के जीवन्त तत्वों का ही समावेश नहीं हुआ, वरन् उसने परवर्ती काव्य के विकास को भी काफी प्रभावित किया। छायावादी काव्य में ही अपने युग के जन-जीवन की समग्रता की अभिव्यक्ति मिलती है-यह काव्य पूर्ण और सर्वांगीण जीवन के उच्चतम आदर्श को व्यक्त करने का प्रयास करता है। छायावाद का युग भारत के अस्मिता की खोज का युग है।

इस युग की एक प्रमुख प्रवृत्ति है - राष्ट्रीय और सांस्कृतिक काव्य का सृजन। इस राष्ट्रीय सांस्कृतिक धारा के मुख्य कवि हैं - माखनलाल चतुर्वेदी, सियारामशरण गुप्त, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', सुभद्राकुमारी चौहान आदि।

माखनलाल चतुर्वेदी (1889-1968) का जन्म मध्यप्रदेश के जिला होशंगाबाद के गाँव बाबई में हुआ। इन्होंने 'प्रभा', 'प्रताप' तथा 'कर्मवीर' पत्रिकाओं का संपादन किया। इनका उपनाम 'एक भारतीय आत्मा' था। इनके कविता संग्रह 'हिमकिरीटिनी' और 'हिमतरंगिनी' हैं। इनकी रचनाओं में देश के प्रति गम्भीर प्रेम और देश-कल्याण के लिए आत्मोत्सर्ग की उत्कट भावना दिखाई देती है। 'पुष्प की अभिलाषा' इनकी प्रसिद्ध कविता है।

सियारामशरण गुप्त (1895-1963) का जन्म उत्तरप्रदेश के जिला झाँसी के चिरगाँव नामक ग्राम में हुआ। ये मैथिलीशरण गुप्त के छोटे भाई थे। ये समरसता और नम्रता की प्रतिमूर्ति थे। इनकी पहली रचना सन् 1910 में 'इन्दु' पत्रिका में प्रकाशित हुई। 'मौर्य विजय', 'अनाथ', 'दूर्वादल', 'विषाद', 'आर्द्रा', 'पाथेय', 'मृष्मयी', 'बापू', 'दैनिकी' आदि इनके प्रसिद्ध काव्य संग्रह हैं। इनकी सभी रचनाओं पर अहिंसा, सत्य, करुणा, विश्वबन्धुत्व, शांति और गाँधीवादी मूल्यों का गहरा प्रभाव दिखाई देता है।

बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' (1897-1960) का जन्म ग्वालियर के भयाना गाँव में हुआ था। इन्होंने 'प्रभा' तथा 'प्रताप' पत्रिकाओं का भी संपादन किया। 'कुंकुम' (1939) इनका पहला कविता-संग्रह है। 'उर्मिला' काव्य इन्होंने (1934) में ही लिख लिया था किंतु उसका प्रकाशन 1975 ई. में हुआ। इनके अन्य काव्य ग्रंथ हैं - 'अपलक', 'रश्मिरेखा', 'क्वासि' तथा 'हम विषपायी जनम के'। 'नवीन' जी की रचनाओं में प्रणय और राष्ट्रप्रेम दोनों भावों की उत्तम अभिव्यक्ति हुई है। ये स्वच्छदाता, प्रेम और मस्ती के कवि के रूप में अधिक जाने जाते हैं।

सुभद्राकुमारी चौहान (1905–1948) का जन्म प्रयाग के निहालपुर गाँव में हुआ था। ये शिक्षा अधूरी छोड़ कर स्वतंत्रता के आंदोलन में कूद पड़ीं। स्वतंत्रता आंदोलन के समय ये कई बार जेल भी गईं। इनकी कविताएँ 'त्रिधारा' और 'मुकुल' में संकलित हैं। इनकी कविता 'झांसी की रानी' तो सामान्य जन-जन में बहुत प्रसिद्ध हुई। इन्होंने राष्ट्रप्रेम के साथ-साथ पारिवारिक परिदृश्य पर भी रचनाएँ लिखीं।

इनके साथ ही रामनरेश त्रिपाठी, उदयशंकर भट्ट, जगन्नाथप्रसाद मिलिन्द, दिनकर आदि ने भी राष्ट्रीय-सांस्कृतिक धारा की कविताएँ लिखीं। रामनरेश त्रिपाठी ने 'मानसी' (1927), 'पथिक' (1920) और 'स्वप्न' (1929) खण्डकाव्य लिखे। उदयशंकर भट्ट ने 'तक्षशिला' (1929), दिनकर ने 'रेणुका' (1935) कविता संग्रह लिखे।

छायावादी कवि

जयशंकर प्रसाद (1890–1937) का जन्म काशी के एक सम्पन्न घराने में हुआ था, जो 'सुघनी साहु' के नाम से प्रसिद्ध था। कवि होने के साथ-साथ ये गंभीर चिंतक भी थे। 'कामायनी' (1935) इनका प्रसिद्ध महाकाव्य है। इनकी काव्य रचनाएँ हैं 'वनमिलन' (1909), 'प्रेमराज्य' (1909), 'अयोध्या का उद्धार' (1910), 'शोकोच्छ्वास' (1910), 'वभ्रुवाहन' (1911), 'कानन कुसुम' (1913), 'प्रेम पथिक' (1913), 'करुणालय' (1913), 'महाराणा का महत्त्व' (1914), 'झरना' (1918), 'आंसू' (1924), 'लहर' (1933)। इनकी कविताओं में स्वार्थ का निषेध कर भारतीय समाज और विश्व के कल्याण की प्रतिष्ठा की गई है।

सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला (1897–1962) का जन्म महिषादल स्टेट मेदिनीपुरी (बंगाल) में बसंत पंचमी को हुआ। इनका जीवन अनेक अभावों एवं विपत्तियों से भरा रहा। ये अपनी धुन के पक्के और फक्कड़ स्वभाव के व्यक्ति थे। इनकी रचनाएँ हैं – 'जूही की कली' (1916), 'अनामिका' (1923), 'परिमल' (1930), 'गीतिका' (1936), 'तुलसीदास' (1937)। इन्होंने 'मतवाला' और 'समन्वय' का संपादन भी किया। इनकी लम्बी कविता 'राम की शक्तिपूजा' इनकी ही नहीं वरन् संपूर्ण छायावादी काव्य की एक उत्कृष्ट उपलब्धि है।

सुमित्रानन्दन पंत (1900–1970) का जन्म उत्तरप्रदेश के जिला उल्मोड़ा के कौसानी ग्राम में हुआ था। बचपन में मातृस्नेह से वंचित हुए बालक पंत का मन अल्मोड़ा की प्राकृतिक सुषमा की ओर आकृष्ट हुआ। पंत की पहली कविता 'गिरजे का घण्टा' (1916) है। उनके काव्य ग्रंथ हैं – 'उच्छ्वास' (1920), 'ग्रन्थि' (1920), 'वीणा' (1927), 'पल्लव' (1928), और 'गुंजन' (1932)। 'वीणा' इनका अंतिम छायावादी काव्य-संग्रह कहा जा सकता है। पंत के काव्य में प्रकृति के मनोरम रूपों का मधुर और सरस चित्रण मिलता है।

महादेवी वर्मा (1907–1987) का जन्म उत्तरप्रदेश के फर्रुखाबाद में हुआ। इनकी काव्य संग्रह हैं – 'नीहार' (1930), 'रश्मि' (1932), 'नीरजा' (1935) और 'सान्ध्यगीत' (1936)। 'यामा' (1940) में 'नीहार', 'रश्मि', 'नीरजा' और 'सान्ध्यगीत' के सभी गीतों का संग्रह है।

छायावाद के अन्य कवियों में माखनलाल चतुर्वेदी, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', भगवतीचरण वर्मा, डॉ. रामकुमार वर्मा, मोहनलाल महतो 'वियोगी', लक्ष्मीनारायण मिश्र, जनार्दनप्रसाद झा 'द्विज' गोपालसिंह नेपाली, केदारनाथ मिश्र 'प्रभात', आर.सी.प्रसाद सिंह आदि उल्लेखनीय हैं।

इस काल में प्रेम और मस्ती का काव्य भी खूब लिखा गया। इन कवियों में हरिवंशराय 'बच्चन', नरेन्द्र शर्मा, गोपालसिंह नेपाली, हृदयेश, हरिकृष्ण 'प्रेमी', अंचल आदि उल्लेखनीय हैं। इन कवियों की कविताओं में जीवन से भागने की नहीं वरन् जीवन की विषमताओं को एक सामान्य अनुभूति के स्तर पर सुलझाने की ललक दिखाई पड़ती है।

निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि छायावाद में स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति मिलती है किन्तु इसमें नैतिक दृष्टि प्रधान है। छायावादी काव्य सर्ववाद, कर्मवाद, वेदांत, शैव दर्शन, अदवतवाद, भक्ति आदि भारतीय सिद्धांतों को लेकर चलता है। इसकी अभिव्यंजना शैली में नवीनता है।

छायावाद काल का गद्य साहित्य

नाटक

हिंदी नाटक साहित्य की दृष्टि से इस युग को 'प्रसाद युग' कहना उचित है। प्रसाद जी ने 1918 ई. के पूर्व से ही नाटक लिखने प्रारंभ कर दिए थे। उनकी आरंभिक रचनाएँ 'सज्जन', 'कल्याणी-परिणय', 'प्रायश्चित', 'करुणालय', 'राज्यश्री' हैं। इनके अतिरिक्त 'विशाख' (1921), 'अजातशत्रु' (1922), 'कामना' (1927), 'जनमजेय का नाग यज्ञ' (1926), 'स्कन्दगुप्त' (1928), 'एक घूंट' (1930), 'चन्द्रगुप्त' (1931) और 'ध्रुवस्वामिनी' (1933) ने हिंदी नाट्य साहित्य को विशिष्ट स्तर एवं गरिमा प्रदान की। वस्तुतः हिंदी उपन्यास और कहानी के क्षेत्र में जो स्थान प्रेमचंद का है, वही नाटक के क्षेत्र में प्रसाद का है। द्विवेदी युग में हुई नाट्यलेखन की क्षतिपूर्ति जयशंकर प्रसाद ने की। भारतेन्दु द्वारा स्थापित की गई हिंदी नाटक और रंगमंच की परम्परा को जयशंकर प्रसाद ने ही नया जीवन और नई दिशा प्रदान की। प्रसाद जी मुख्यतः ऐतिहासिक नाटककार के रूप में प्रतिष्ठित हैं।

प्रसाद के अतिरिक्त हरिकृष्ण 'प्रेमी' और लक्ष्मीनारायण मिश्र विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। हरिकृष्ण प्रेमी ने इस अवधि में 'स्वर्णविहान' (1930), 'रक्षाबन्धन' (1934), 'पाताल विजय' (1936), 'प्रतिशोध' (1937), 'शिवासाधना' (1937) आदि नाटक लिखे। इनमें 'स्वर्णविहान' गीतिनाटक है। लक्ष्मीनारायण मिश्र ने इस काल में 'अशोक' (1927), 'संन्यासी' (1929), 'मुक्ति का रहस्य' (1932), 'राक्षस का मन्दिर' (1932), 'राजयोग' (1934), 'सिन्दूर की होली' (1934), 'आधी रात' (1934) आदि नाटकों की रचना की।

इनके अतिरिक्त अम्बिकादत्त त्रिपाठी, रामचरित उपाध्याय, रामनरेश त्रिपाठी, गंगाप्रसाद अरोड़ा, गौरीशंकर प्रसाद, परिपूर्णानन्द, वियोगी हरि, गोकुलचन्द्र वर्मा, कैलाशनाथ भटनागर, लक्ष्मीनारायण गर्ग, सेठ गोविन्ददास, अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' आदि के नाटक भी उल्लेखनीय हैं। यह काल नाटक साहित्य के लिए समृद्ध काल कहा जा सकता है। इस काल में ऐतिहासिक, धार्मिक, सामाजिक, राष्ट्रीय, सांस्कृतिक चेतना एवं यथार्थपरक नाटक लिखे गए।

एकांकी नाटक

एकांकी लेखन का प्रचलन छायावाद काल में ही हुआ, यों आरंभ से ही एकांकी लेखन के छिटपुट प्रयास होने लगे थे। उदाहरण के लिए महेशचन्द्र प्रसाद के 'भारतेश्वर का सन्देश' (1918), देवीप्रसाद गुप्त के 'उपाधि और व्याधि' (1921), तथा रूपनारायण पाण्डेय 'प्रायश्चित प्रहसन' (1923) उल्लेखनीय हैं। बदरीनाथ भट्ट के एकांकी-संग्रह 'लबड़ धों धों' (1926) में मनोरंजक प्रहसन संकलित हैं। हनुमान शर्मा के एकांकी संग्रह 'मान-विजय' (1926), बेचन शर्मा 'उग्र' का 'चार बेचारे' (1929) और प्रसाद का 'एक घूँट' (1930) भी इस काल की उल्लेखनीय रचनाएँ हैं।

हिंदी में पश्चिमी ढंग के एकांकी नाटकों का प्रणयन 1930 ई. के बाद हुआ। इस क्रम में रामकुमार वर्मा के 'बादल की मृत्यु' (1930), भुवनेश्वरप्रसाद 'कारवां' (1935) उल्लेखनीय रचनाएँ हैं। अन्य एकांकीकारों में गणेशप्रसाद द्विवेदी का 'सोहागबिन्दी तथा अन्य नाटक' (1934), उदयशंकर भट्ट का 'दुर्गा' (1934) और 'एक ही कब्र में' (1936), सेठ गोविन्ददास का 'स्पर्द्धा' (1935), जगदीशचन्द्र माथुर का 'मेरी बांसुरी' (1936) और 'भोर का तारा' (1937) और भगवतीचरण वर्मा का एकांकी 'सबसे बड़ा आदमी' (1936) विशेष लोकप्रिय हुए।

उपन्यास

उपन्यास लेखन के लिए इस युग को निर्विवाद रूप से 'प्रेमचन्द-युग' कहा गया है क्योंकि 'सेवासदन' (1918) का प्रकाशन न केवल प्रेमचन्द (1880-1936) के साहित्यिक जीवन की वरन् हिंदी उपन्यास की एक महत्त्वपूर्ण घटना थी। प्रेमचन्द जी का जन्म वाराणसी जिले के लमही ग्राम में हुआ था। 'सेवासदन' के बाद प्रेमचन्द के 'प्रेमाश्रय' (1922), 'रंगभूमि' (1925), 'कायाकल्प' (1926), 'निर्मला' (1927), 'गबन' (1931), 'कर्मभूमि' (1933) और 'गोदान' (1935) शीर्षक सात मौलिक उपन्यास प्रकाशित हुए। पहले प्रेमचन्द उर्दू में लिखा करते थे। प्रेमचन्द हिंदी कथा साहित्य को 'मनोरंजन' के स्तर से उठाकर जीवन के वास्तविक धरातल पर लाए। उन्होंने जीवन और समाज की अनेक समसामयिक समस्याओं जैसे - पराधीनता, जमींदारों तथा सरकारी कर्मचारियों द्वारा किसानों का शोषण, निर्धनता, अशिक्षा, अंधविश्वास, दहेज की कुप्रथा, घर और समाज में नारी की स्थिति, वेश्याओं की जिन्दगी, वृद्ध-विवाह, साम्प्रदायिक वैमनस्य आदि को अपने उपन्यासों के माध्यम से उठाया।

प्रेमचन्द के समकालीन उपन्यासकारों की संख्या ढाई सौ से अधिक है। विश्वंभरनाथ शर्मा 'कौशिक' (1891-1946) ने 'माँ' और 'भिखारिणी' लिखकर प्रेमचन्द का सफल अनुकरण किया। चतुरसेन शास्त्री ने आलोच्य अवधि में 'हृदय की परख' (1918), 'हृदय की प्यास' (1932), 'अमर अभिलाषा' (1932), और 'आत्मदाह' (1937) शीर्षक उपन्यासों की रचना की। प्रतापनाराण श्रीवास्तव ने 'विदा' (1929), 'विजय' (1937), नामक आदर्शवादी उपन्यास लिखे। शिवपूजन सहाय ने आंचलिक उपन्यास 'देहाती दुनिया' (1926) लिखा। प्रेमचन्द युग के ही अक्खड़ उपन्यासकार बेचन शर्मा 'उग्र' ने 'चन्द हसीनों के खुतूत' (1927), 'दिल्ली का दलाल' (1927), 'बुधुआ की बेटी' (1928), 'शराबी' (1930), उपन्यासों की रचना की। इन्होंने समाज की बुराइयों को, उसकी नंगी सच्चाई को बिना किसी लाग लपेट के साहस के साथ किन्तु सपाटबयानी के साथ प्रस्तुत किया।

उग्र के ही अनुकरण पर ऋषभचरण जैन ने वर्जित विषयों पर 'दिल्ली का कलंक', 'दिल्ली का व्यभिचार', 'वेश्यापुत्र', 'रहस्यमयी', आदि उपन्यास लिखे। इस प्रकार अनूपलाल मण्डल ने पत्रात्मक प्रविधि में 'समाज की वेदी पर' और 'रूपरेखा' नामक उपन्यास लिखे। प्रेमचन्द के समकालीन उपन्यासकारों में जयशंकर प्रसाद भी उल्लेखनीय हैं। इन्होंने 'कंकाल' (1929) और 'तितली' (1934) उपन्यासों की रचना की। 'कंकाल' विशेष उल्लेखनीय है।

हिंदी उपन्यास को प्रेमचन्द-युग (छायावाद काल) में ही नई दिशा देने का सफल प्रयास जैनेन्द्र (1905-1988) ने किया। इन्होंने 'परख' (1929), 'सुनीता' (1935) और 'त्यागपत्र' (1937) उपन्यासों में व्यापक सामाजिक जीवन को विषय न बनाकर व्यक्ति मन की शंकाओं, उलझनों और गुत्थियों का चित्रण किया है। इस काल के अन्य उपन्यासकारों में राधिकारमणप्रसाद सिंह 'राम रहीम' (1937), सियारामशरण गुप्त 'गोद' (1932), 'अन्तिम आकांक्षा' (1934) और 'नारी' (1937), भगवती प्रसाद वाजपेयी 'प्रेमपथ', 'मीठी चुटकी', 'अनाथ पत्नी', 'त्यागमयी', 'लालिमा' उल्लेखनीय हैं। वृन्दावनलाल वर्मा ने ऐतिहासिक उपन्यास लेखन परंपरा का आरंभ किया। इनके 'संगम' (1928), 'लगन' (1929), 'प्रत्यागत' (1929), 'कुण्डलीचक्र' (1932) सामाजिक उपन्यास हैं तथा 'गढ़कुंडार' (1929), 'विराटा की पद्मिनी' (1935) ऐतिहासिक उपन्यास हैं। राहुल सांकृत्यायन (1893-1963) अनूदित उपन्यास लिखे। इस काल में स्वच्छन्दतावादी पद्धति के प्रेममूलक उपन्यास लेखन का श्रेय सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' को जाता है। उन्होंने 'अप्सरा' (1931), 'अलका' (1933), 'प्रभावती' (1936), और 'निरुपमा' (1936) उपन्यासों का सृजन किया।

कहानी

आधुनिक हिंदी का विकास सही अर्थ में इसी काल में हुआ। उपन्यास सम्राट प्रेमचन्द का स्थान हिंदी कहानी के क्षेत्र में भी अद्वितीय है। प्रेमचन्द जी की कहानियाँ भी अपने आसपास की जिन्दगी से जुड़ी हुई हैं। कहानियों में प्रेमचन्द का आदर्शवादी दृष्टिकोण भी यथार्थवाद के साथ-साथ दिखाई देता है। इन्होंने लगभग 300 कहानियाँ लिखीं जिनमें प्रमुख हैं - 'बलिदान' (1918), 'आत्मराम' (1920), 'बूढ़ीकाकी' (1921), 'विचित्र होली' (1921), 'गृहदाह' (1922), 'हार की जीत' (1922), 'परीक्षा' (1923), 'आपबीती' (1923), 'उद्धार' (1924), 'सवासेर गेहूँ' (1924), 'शतरंज के खिलाड़ी' (1924), 'माता का हृदय' (1924), 'कजाकी' (1926), 'सुजान भगत' (1927), 'इस्तीफा' (1928), 'अलग्योझा' (1929), 'पूस की रात' (1930), 'तावान' (1931), 'होली का उपहार' (1931), 'ठाकुर का कुआँ' (1932), 'बेटों वाली विधवा' (1932), 'ईदगाह' (1933), 'नशा' (1934), 'बड़े भाई साहब' (1934), 'कफन' (1936) आदि।

इस काल के दूसरे प्रमुख कहानीकार जयशंकर प्रसाद हैं। इनकी प्रथम कहानी 'ग्राम' (1911) 'इन्दु' में छपी। उनकी कहानियों में जीवन के सामान्य यथार्थ को कम और स्वर्णिम अतीत के गौरव को अधिक स्थान मिला है। 'प्रतिध्वनि' (1926), 'आकाशदीप' (1929), 'आंधी' (1931), 'इन्द्रजाल' (1936) इनके कहानी संग्रह हैं। 'आकाशदीप', 'पुरस्कार', 'मधुवा', 'गुण्डा', 'सालवती', 'इन्द्रजाल', इनकी उल्लेखनीय कहानियाँ हैं।

अन्य कहानीकारों में विश्वंभरनाथ शर्मा 'कौशिक' और सुदर्शन प्रेमचन्द परंपरा के कहानीकार माने जाते हैं। 'गल्पमन्दिर', 'चित्रशाला' (दो भाग), 'मणिमाला', 'कल्लोल' आदि उनके कहानी संग्रह हैं जिनमें दौ सौ से अधिक कहानियाँ संगृहीत हैं। सुदर्शन के कहानी संग्रहों में 'सुदर्शन सुधा', 'सुदर्शन-सुमन', 'तीर्थयात्रा', 'पुष्पलता', 'गल्पमंजरी', 'सुप्रभात', 'परिवर्तन', 'पनघट' आदि उल्लेखनीय हैं।

आचार्य चतुरसेन शास्त्री, रायकृष्णदास, विनोदशंकर व्यास ने प्रसाद जी की कथा-लेखन शैली को अपनाया। उन्होंने 'दुखवा मैं कासो कहूं मोरी सजनी', 'अंबपालिका', 'प्रबुद्ध', 'भिक्षुराज', 'बावर्चिन', 'हल्दीघाटी में', 'बाणवधू' आदि कहानियाँ लिखीं। रायकृष्णदास ने 'अन्तःपुर का आरम्भ' और 'रमणो का रहस्य' कहानियाँ लिखीं। विनोदशंकर व्यास ने 'कल्पनाओं का राजा', 'विधाता', 'अपराध' आदि कहानियाँ लिखीं।

इस काल के पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र', जैनेन्द्र, अज्ञेय का भी नई कहानीधारा को जन्म दिया। 'उग्र' की कहानियों में सामाजिक विद्रूपताओं के प्रति आक्रोश उग्र रूप में मिलता है, अतः इनकी कहानियों में भावुकता कम है। 'चिनगारियाँ' (1923), 'शैतान मंडली' (1924), 'इन्द्रधनुष' (1927), 'बलात्कार' (1927), 'चाकलेट' (1928), 'दोजख की आग' (1929), 'निर्लज्जा' (1929) इनके कहानी संग्रह हैं। प्रेमचन्द के बाद हिंदी कहानी को नया आयाम देने वालों में जैनेन्द्र प्रमुख हैं। उन्होंने प्रेमचन्द के निकट रहने पर भी उनका अनुकरण नहीं किया वरन् अपने लिए नई दिशा खोजी। उन्होंने कहानी को 'घटना' के स्तर से उठाकर 'चरित्र' और 'मनोवैज्ञानिक सत्य' पर लाने का प्रयास किया। उनकी 'हत्या' (1927), 'खेल', 'अपना अपना भाग्य', 'बाहुबली', 'वातायन', 'नीलम देश की राजकन्या', 'दो चिड़िया', 'ध्रुवयात्रा', 'पाजेब', 'एक दिन' आदि प्रसिद्ध कहानियाँ हैं।

अज्ञेय (1911-1987) का स्थान जैनेन्द्र के समान ही महत्त्वपूर्ण है। जैनेन्द्र जहाँ मनःसंसार में रमे रहते थे वहीं अज्ञेय के पात्र बहिर्मुखी हैं जो समाज तथा आसपास की परिस्थितियों से जूझने के लिए सदैव प्रस्तुत रहते हैं। भारतीय समाज की रूढ़िप्रियता, शोषण, वर्तमान विश्व में व्याप्त संघर्ष आदि को लेकर उन्होंने अनेक कहानियाँ लिखी हैं। उनकी प्रथम कहानी संग्रह 'त्रिपथगा' (1931) है। इसी प्रकार 'कड़ियाँ', 'अमर वल्लरी', 'मैना', 'सिगनेलर', 'रेल की सीटी', 'रोज', 'हरसिंगार', आदि प्रसिद्ध कहानियाँ हैं।

इस युग के अन्य कहानीकारों में राधिकारमणप्रसाद सिंह, भगवतीप्रसाद वाजपेयी, निराला, पंत, राहुल सांकृत्यायन, सुभद्राकुमारी चौहान, शिवरानी देवी, उषादेवी मित्रा, चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, विष्णुप्रभाकर आदि उल्लेखनीय हैं। राधिकारमण सिंह ने 'कानों में कंगना' लिख कर प्रसिद्धि प्राप्त की। इनका कहानी संग्रह 'गाँधी टोपी' (1938) है। भगवतीप्रसाद वाजपेयी की 'मधुपर्क', 'दीपमालिका', 'हिलोर', 'मिठाईवाला', 'हृदगति', 'तारा', 'स्वप्नमयी', 'शबनम' आदि कहानियाँ उल्लेखनीय हैं। भगवतीचरण वर्मा की कहानियाँ 'इन्स्टालमेन्ट'(1936) में संगृहीत हैं। निराला ने 'श्रीमती गजानन्द शास्त्रिणी', 'पच्चा', 'लिली' तो पंत जी ने 'पानवाला' नामक कहानी लिखी।

राहुल सांकृत्यायन का कहानी संग्रह 'सतमी के बच्चे' (1935) है। नारी लेखिकाओं में सुभद्राकुमारी चौहान की कहानियाँ सामाजिक-पारिवारिक जीवन के व्यावहारिक चित्रण के लिए

विशेष प्रसिद्ध हैं। 'बिखरे मोती' (1932), और 'उन्मादिनी' (1934) इनके कहानी संग्रह हैं। शिवरानी देवी का कहानी संग्रह 'कौमुदी' (1937) है। उषादेवी मित्रा की भावुकताभरी कहानियाँ 1933 ई. के आसपास प्रकाशित हुईं। इनमें 'पिउ कहाँ', 'मूर्त्त मृदंग', 'गोधूलि', 'देवदासी', 'मन का मोह' आदि प्रमुख हैं। चन्द्रगुप्त विद्यालंकार की कहानियाँ 'गोरा', 'बचपन', 'सन्देह', 'आँसू', 'शराबी', 'भय का राज्य', 'पगली', 'ताड़ का पत्ता', 'मास्टर जी' विशेष उल्लेखनीय हैं।

निबंध

इस युग के सबसे प्रमुख निबंधकार आचार्य रामचन्द्र शुक्ल हैं। इनके निबंध 'चिन्तामणि' के दो खण्डों में संकलित हैं। प्रथम भाग में तीन प्रकार के निबंध हैं – मनोविकार विषयक, साहित्य-सिद्धांत विषयक और साहित्यालोचन विषयक। मनोविकार संबंधी निबंधों में आचार्य जी ने अत्यंत गंभीर मुद्रा में उत्साह, श्रद्धा, भक्ति, करुणा, लज्जा, ग्लानि, लोभ, प्रीति, ईर्ष्या, भय आदि भावों का विश्लेषण किया है। शुक्लजी का विशद पाण्डित्य, प्रौढ़ चिन्तन, सूक्ष्म विश्लेषण, व्यापक अनुभव सब कुछ अपने उत्कर्ष पर पहुँचा दिखाई देता है। इनके निबंधों में प्रांजल साहित्यिक भाषा का प्रयोग द्रष्टव्य है।

ललित निबंध की दृष्टि से गुलाबराय (1888-1963) की कुछ रचनाएँ उल्लेखनीय हैं। 'ठलुआ-क्लब', 'फिर निराशा क्यों', 'मेरी असफलताएँ' आदि संग्रहों में कुछ श्रेष्ठ व्यक्तिगत निबंध संकलित हैं। 'मेरा मकान', 'मेरे नापिताचार्य', 'मेरी दैनिकी का एक पृष्ठ', 'प्रीतिभोज' आदि निबंध ललित निबंध की सभी विशेषताओं से युक्त हैं। पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी ने भी कतिपय व्यक्तिगत निबंध लिखे, जो 'पंचपात्र' में संगृहीत हैं। इसमें संकलित 'अतीत स्मृति', 'उत्सव', 'रामलाल पण्डित', 'श्रद्धांजलि के दो फूल' आदि निबंधों में लेखक की भावुकता, आत्मीयता तथा व्यंग्यपूर्ण प्रतिक्रिया का सुन्दर समन्वय मिलता है। अन्य ललित निबंधकारों में शान्तिप्रिय द्विवेदी, शिवपूजन सहाय, बेचन शर्मा 'उग्र', रघुवीरसिंह और माखनलाल चतुर्वेदी के नाम लिए जा सकते हैं।

समालोचना

इस काल में समालोचना का साहित्य एक नवीन कलेवर ग्रहण करता है। इस काल के समालोचना साहित्य का परिष्कार और परिमार्जन करने का श्रेय आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जी को ही जाता है। इनकी पहली सैद्धांतिक आलोचना कृति 'काव्य में रहस्यवाद' इसी युग में प्रकाशित हुई। शुक्ल जी ने भारतीय और पाश्चात्य साहित्यशास्त्र का गंभीर अध्ययन किया। उन्होंने हिंदी में पहली बार अपने ग्रंथ 'रस-मीमांसा' में रस-विवेचन को मनोवैज्ञानिक आधार प्रदान किया। इस काल में सैद्धांतिक आलोचकों में लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु' भी उल्लेखनीय हैं। 'काव्य में अभिव्यंजनावाद' उनका आलोचना ग्रंथ है। डॉ. रामकुमार वर्मा ने भी 'आलोचनादर्श' और 'साहित्य समालोचना' (1930) समालोचनाएँ लिखीं।

इस काल में संस्कृत-काव्यशास्त्र का परिचय देने के लिए सिद्धांत या लक्षण ग्रंथों की रचना प्रचुर मात्रा की गई। इनमें जगन्नाथप्रसाद 'भानु' (रस रत्नाकर 1919, अलंकार-दर्पण 1936), गुलाबराय (नवरस-1921), विश्वनाथ प्रसाद मिश्र (काव्यांग कौमुदी-1924), भगवानदीन (व्यंग्यार्थ

मंजूषा-1927), रामशंकर शुक्ल 'रसाल' (अलंकार पीयूष-1929, निर्णय-1930), श्यामसुन्दरदास (रूपक रहस्य-1932) प्रमुख हैं। प्रायोगिक आलोचना के क्षेत्र में पद्मसिंह शर्मा (बिहारी सतसई की भूमिका), कृष्णबिहारी मिश्र (देव और बिहारी), और भगवानदीन (बिहारी और देव) प्रमुख हैं।

इस काल के समालोचना साहित्य को सबसे महत्त्वपूर्ण देन शुक्ल जी की ही है। उन्होंने अपने विवेचन के लिए हिंदी के तीन बड़े कवियों गोस्वामी तुलसीदास, सूरदास और जायसी को चुना। सर्वप्रथम उन्होंने 'तुलसी ग्रंथावली' (1923) का संपादन किया। इसीकी भूमिका बाद में 'गोस्वामी तुलसीदास' (1933) शीर्षक से स्वतंत्र रूप से प्रकाशित हुई। इस प्रकार 'जायसी-ग्रंथावली' (1924) और 'भ्रमरगीतसार' (1926) का संपादन भी उन्होंने किया। 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' (1929) उनके गंभीर अध्ययन और विश्लेषण और सामर्थ्य का अन्य प्रमाण है।

शुक्ल जी के समान ही 'कृष्णशंकर' शुक्ल ने 'केशव की काव्य-कला' (1934) और 'कविवर रत्नाकर' (1935) समालोचनाएँ लिखीं। इसी कड़ी में विश्वनाथ प्रसाद मिश्र भी उल्लेखनीय हैं। 'बिहारी की वाग्विभूति' (1936) और 'हिंदी नाट्यसाहित्य का विकास' (1930) उनकी समालोचनाएँ हैं।

इसी मध्य छायावाद पर बहुत आलोचनाएँ लिखी गईं। यहाँ छायावाद को लेकर दो मत हो गए। छायावाद के समर्थन में नन्ददुलारे वाजपेयी, अवध उपाध्याय, कृष्णदेव प्रसाद गौड़, शान्तिप्रिय द्विवेदी, नगेन्द्र, सुमित्रानन्द पंत, जयशंकर प्रसाद आदि हैं। प्रसाद ने 'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध' (1939) तथा महादेवी वर्मा ने 'सान्ध्यगीत' (1936) की भूमिका में छायावाद को महत्त्व दिया। छायावाद के समर्थ आलोचक नन्ददुलारे वाजपेयी जी हैं। उन्होंने 'प्रसाद', 'निराला' और 'पंत' पर 1931 ई. में पृथक-पृथक तीन निबन्ध लिखकर छायावाद की बृहत् त्रयी की घोषणा की। शान्तिप्रिय द्विवेदी जी ने 'हमारे साहित्य निर्माता' (1932), 'कवि और काव्य' (1936) तथा 'साहित्यिकी' (1938) तीन आलोचना ग्रंथ लिखे। नगेन्द्र जी ने 'सुमित्रानन्दन पन्त' (1938) नामक पुस्तक लिखी।

जीवनी

आलोच्य युग में जीवनी लेखन की दिशा में पर्याप्त कार्य हुआ। इस समय राष्ट्रीय नेताओं पर जीवनियाँ लिखी गईं। इनमें नवजादिकलाल श्रीवास्तव ने 'देशभक्त लाला लाजपतराय' (1920), ईश्वरीप्रसाद शर्मा 'बालगंगाधर तिलक' (1920), रामदयाल तिवारी 'गाँधी मीमांसा' (1921), रामनरेश त्रिपाठी 'गाँधी जी कौन हैं' (1921), नरोत्तमदास व्यास 'गाँधी गौरव' (1921), डॉ. राजेन्द्र प्रसाद 'चंपारन में महात्मा गांधी' (1922), मन्मथनाथ गुप्त 'चन्द्रशेखर आजाद' (1938) प्रमुख हैं।

इस काल में भारतीय इतिहास के महापुरुषों एवं महिलाओं से संबंधित जीवनियाँ भी लिखी गईं। इनमें रामनरेश त्रिपाठी 'पृथ्वीराज चौहान' (1919), रामवृक्ष शर्मा 'शिवाजी' (1925), गौरीशंकर हीराचन्द ओझा 'महाराणा प्रतापसिंह' (1927), शिवव्रतलाल वर्मन 'सच्चिदेवियाँ' (1921), मनोरमाबाई 'विद्योत्तमा' (1924) आदि प्रमुख हैं।

आत्मकथा

अपनी जीवनी लिखना 'आत्मकथा' है। हिंदी में इस विधा का आरंभ बनारसीदास जैन ने 'अर्धकथानक' (1914) से किया। ये पद्यात्मक रचना थी। गद्य में सत्यानन्द अग्निहोत्री ने 'मुझमें देव-जीवन का विकास' (1910), स्वामी दयानन्द 'जीवन-चरित्र' (1917) आत्मकथा लिखी। छायावाद युग में भाई परमानन्द ने 'आपबीती' (1921), मोहनदास करमचंद गाँधी ने 'आत्मकथा' (1923), नेताजी सुभाषचन्द्र बोस ने 'तरुण के स्वप्न' (1935) उल्लेखनीय आत्मकथाएँ लिखीं।

यात्रावृत्त

छायावाद युग में यात्रावृत्त भी खूब लिखे गए। श्री रामनारायण मिश्र (समय 1876-1953), गणेशनारायण सोमानी (जन्म 1878), स्वामी सत्यदेव परिव्राजक (जन्म 1879), कन्हैयालाल मिश्र आर्योपदेशक (जन्म 1880), शिवप्रसाद गुप्त (जन्म 1883), राहुल सांकृत्यायन (जन्म 1893), सेठ गोविन्ददास (1896) आदि ने इस विधा को खूब समृद्ध किया। रामनारायण मिश्र ने 'यूरोप यात्रा में छह मास' (1932), गणेशनारायण सोमानी 'मेरी यूरोप-यात्रा' (1932) (इनके यात्रावृत्तांत पत्रात्मक शैली में हैं जो उन्होंने अपनी बेटी को लिखे थे), कन्हैयालाल मिश्र 'आर्योपदेशक' ने 'हमारी जापान यात्रा' (1931), शिवप्रसाद गुप्त ने 'पृथ्वी-प्रदक्षिणा' (1934) यात्रावृत्त लिखे। इनमें सत्यदेव परिव्राजक तथा राहुल सांकृत्यायन इस युग के प्रमुख यात्रावृत्तांत लेखक हैं। सत्यदेव ने 'मेरी जर्मन यात्रा' (1926), 'यात्री मित्र' (1936), 'यूरोप की सुखद स्मृतियाँ' (1937), 'ज्ञान के उद्यान में' (1937), 'नई दुनिया के मेरे अद्भुत संस्मरण' (1937) और 'अमरीका प्रवास की मेरी अद्भुत कहानी' (1937) नामक यात्रावृत्त लिखे। राहुल सांकृत्यायन ने 'तिब्बत में सवा वर्ष' (1933), 'मेरी यूरोप-यात्रा' (1935) तथा 'मेरी तिब्बत यात्रा' (1937) शीर्षक ग्रंथों की रचना की।

संस्मरण तथा रेखाचित्र

इस युग में संस्मरण एवं रेखाचित्र भी पर्याप्त मात्रा में लिखे गए। 'सरस्वती' में रामकुमार खेमका, कृपानाथ मिश्र, रामनारायण मिश्र, भगवानदीन दुबे, रामेश्वरी नेहरू, श्रीमन्नारायण अग्रवाल के संस्मरण प्रकाशित हुए। आचार्य रामदेव ने स्वामी श्रद्धानन्द, अमृतलाल चक्रवर्ती ने बालमुकुन्द गुप्त, बनारसीदास चतुर्वेदी ने श्रीधर पाठक पर संस्मरण लिखे। 'सुधा' (1921) में प्रकाशित इलाचन्द्र जोशी कृत 'मेरे प्राथमिक जीवन की स्मृतियाँ' तथा वृन्दावनलाल वर्मा कृत 'कुछ संस्मरण' भी उल्लेखनीय हैं।

इस युग में संस्मरणात्मक रेखाचित्रों की एक नई विधा का भी प्रचलन हुआ। जिसके विकास में श्रीराम शर्मा, बनारसीदास चतुर्वेदी तथा महादेवी वर्मा ने महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। श्रीराम शर्मा कृत 'बोलती प्रतिमा' (1937) विशेष उल्लेखनीय है। महादेवी जी के संस्मरणात्मक रेखाचित्रों में 'रामा' (1930), 'बिन्दा' (1934), 'सबिया' (1935), 'बिट्टो' (1935), 'घीसा' (1936) आदि प्रमुख हैं। चतुर्वेदी जी ने संतों, समाजसेवियों, देशसेवकों और साहित्यकारों से संबंधित अनेक संस्मरणात्मक रेखाचित्र लिखे।

छायावादोत्तर काल (1936 से)

इस बीच का साहित्य कई वादों और धाराओं से होकर गुजरा है। विभिन्न प्रकार की जीवन दृष्टियाँ, काव्य की वस्तु और शिल्प संबंधी मान्यताएँ उभरी हैं। इस समय के साहित्य में

व्यक्तिगत अनुभूति की गहनता, सामाजिक अनुभूति की स्फीति, रोमानी दृष्टि, बौद्धिक यथार्थवादी आदि दृष्टियाँ विकसित हुईं। इस समय काव्य की अग्रलिखित धाराएँ मुख्य रूप से उभरीं जिनमें राष्ट्रीय-सांस्कृतिक कविता, उत्तर छायावाद, वैयक्तिक गीतिकाव्य, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद और नयी कविता धारा प्रमुख हैं।

राष्ट्रीय-सांस्कृतिक काव्य धारा की प्रमुख कृतियों में 'नहुष', 'कुणालगीत', 'अजित', 'जयभारत'(मैथिलीशरण गुप्त), 'माता', 'समर्पण', 'युगचरण', (माखनलाल चतुर्वेदी), 'अपलक', 'क्वासि', 'विनोबा-स्तवन', 'हम विषपायी जनम के' (बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'); 'नकुल', 'नोआखाली', 'जयहिन्द', 'आत्मोत्सर्ग', 'उन्मुक्त', 'गोपिका' (सियारामशरण गुप्त); 'हुंकार', 'कुरुक्षेत्र', 'द्वन्द्वगीत', 'इतिहास के आंसू', 'रश्मिस्थी', 'धूप और धुआं', 'दिल्ली' (दिनकर); 'वासवदत्ता', 'भैरवी', 'कुणाल', 'चित्रा', 'युगाधार' (सोहनलाल द्विवेदी); 'सूत की माला' (बच्चन); 'हल्दीघाटी', 'जौहर' (श्यामनारायण पाण्डेय); 'विक्रमादित्य' (गुरुभक्तसिंह 'भक्त'); 'विसर्जन', 'मानसी', 'अमृत और विष', 'युगदीप', 'यथार्थ और कल्पना', 'एकला चलो रे', 'विजयपथ' (उदयशंकर भट्ट); 'कालदहन', 'तप्तगृह', 'कैकयी', 'दानवीर कर्ण' (केदारनाथ मिश्र प्रभात) प्रमुख हैं।

उत्तर छायावाद के प्रमुख कवि एवं रचनाएँ हैं - 'तुलसीदास', 'अणिमा', 'अर्चना', 'आराधना' (निराला); 'स्वर्णकिरण', 'स्वर्णधूलि', 'मधुज्वाल', 'युगपथ', 'उत्तरा', 'रजतशिखर', 'शिल्पी', 'अतिमा', 'कला और बूढ़ा चाँद', 'लोकायतन' (सुमित्रानन्दन पन्त); 'दीपशिखा' (महादेवी वर्मा); 'रूप अरूप', 'शिप्रा', 'मेघगीत', 'अवन्तिका' (जानकीवल्लभ शास्त्री)।

वैयक्तिक प्रगीत कविता में रोमानी धारा की कविताएँ आती हैं। इस प्रवृत्ति के अन्तर्गत आने वाली प्रमुख कविताएँ हैं - 'निशा निमंत्रण', 'आकुल अन्तर', 'सतरंगिनी', 'मिलन यामिनी' (हरिवंशराय बच्चन); 'रसवन्ती' (दिनकर); 'प्रभातफेरी', 'प्रवासी के गीत', 'पलाशवन', 'मिट्टी और फूल', 'कदलीवन' (नरेन्द्र वर्मा); 'मधूलिका', 'अपराजिता', 'किरणवेला', 'लाल चूनर' (रामेश्वर शुक्ल अंचल); 'कलापी', 'संचयिता', 'जीवन और यौवन', 'पांचजन्य' (आर.सी.प्रसाद सिंह); 'रूपरश्मि', 'छायालोक', 'उदयाचल', 'मन्वन्तर', 'दिवालयोक'(शम्भुनाथ सिंह); 'पंछी', 'पंचमी', 'रागिनी', 'नवीन' (गोपालसिंह नेपाली), 'नींद के बादल' (केदारनाथ अग्रवाल); 'मंजीर' (गिरिजाकुमार माथुर); 'छवि के बन्धन' (भारतभूषण अग्रवाल)। इसके पश्चात् प्रगतिवादी धारा प्रमुख रूप से विकसित हुई।

प्रगतिवाद

जो काव्य मार्क्सवादी दर्शन को सामाजिक चेतना और भावबोध को अपना लक्ष्य बनाकर चला उसे प्रगतिवाद कहा गया। इसके विकास में राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियाँ तो सहायक हुईं साथ ही छायावाद की वायवी काव्यधारा भी इसमें सहायक सिद्ध हुई। उस समय राजनीतिक दासता देश में एक ओर पूंजीवाद और सामन्तवाद की शोषक शक्तियाँ अपना जाल फैला रही थीं, दूसरी ओर जन-सामान्य के लिए अपार भयावह गरीबी, अशिक्षा, असुविधा और अपमान की सृष्टि कर रही थीं। युद्ध के दबाव में जनता और भी आक्रांत हो रही थी। जगती हुई उग्र जन-चेतना, रूस में स्थापित समाजवाद तथा पश्चिम के अन्य देशों में प्रचारित साम्यवाद के कारण भारत में 1935 ई. के आस-पास साम्यवादी आन्दोलन उठने लगा। सन् 1935 ई. में एम.

फास्टर के सभापतित्व में पेरिस में 'प्रोग्रेसिव राइटर्स एसोसियेशन' नामक अन्तर्राष्ट्रीय संस्था का प्रथम अधिवेशन हुआ। भारत में भी 1936 ई. में इस संस्था की एक शाखा खुली और प्रेमचंद की अध्यक्षता में लखनऊ में प्रथम अधिवेशन हुआ।

प्रगतिवाद के प्रमुख कवि और रचनाएँ इस प्रकार हैं – 'युगवाणी', 'ग्राम्या' (पंत), 'कुकुरमुत्ता' (निराला), 'युग की गंगा' (केदारनाथ अग्रवाल), 'युगधारा' (नागार्जुन), 'धरती' (त्रिलोचन), 'जीवन के गान', 'प्रलय सृजन' (शिवमंगलसिंह सुमन), 'अजेय खंडहर', 'पिघलते पत्थर', 'मेधावी' (रांधेय राघव), 'मुक्तिमार्ग', 'जागते रहो' (भारतभूषण अग्रवाल)।

निराला के गीत छायावाद से अलग न हटकर उसकी सम्भावनाओं से निर्मित हैं। उनमें एक बहुत बड़ी शक्ति का विकास होता है, वह है –लोकोन्मुखता। निराला जी व्यक्तिगत प्रणय के ही गीत न गाकर लोक-जीवन के सुख-दुःख को, यातना और संघर्ष को गहराई से उभारते हैं। निराला जी ने छायावाद से एकदम हटकर प्रगतिशील कविताएँ लिखीं तथा छायावादी कविताओं से हटकर लोकपरक कविताएँ लिखीं। इनकी प्रगतिवादी कविताओं में 'कुकुरमुत्ता', 'गर्म पकौड़ी', 'प्रेम-संगीत', 'रानी और कानी', 'खजोहरा', 'मास्को डायलाग', 'स्फटिक शिला', और 'नये पत्ते' प्रमुख हैं। सुमित्रानन्दन पंत ने सन् 1936 ई. में 'युगान्त' की घोषणा कर 1939 ई. में 'युगवाणी' और सन् 1940 में 'ग्राम्या' लिखी। पंत ने मार्क्सवादी दर्शन को चिन्तन के स्तर पर स्वीकार किया।

केदारनाथ अग्रवाल का जन्म 9 जुलाई सन् 1911 को कमासिन, जिला बांदा में हुआ। ये प्रगतिवादी वर्ग के सशक्त कवि हैं। 'माझी न बजाओ वंशी', 'बसन्ती हवा' आदि प्रतिनिधि कविताएँ 'फूल नहीं रंग बोलते हैं' में संगृहीत हैं। रामविलास शर्मा का जन्म 1912 में झांसी में हुआ। ये प्रख्यात प्रगतिवादी समीक्षक हैं। ये प्रगतिशील लेखक संघ के मंत्री तथा 'हंस' के सम्पादक भी रहे। नागार्जुन का वास्तविक नाम वैद्यनाथ मिश्र है। इनका जन्म 1910 में तरौनी (दरभंगा) में हुआ था। 'बादल को घिरते देखा', 'पाषाणी', 'चन्दना', 'रवीन्द्र के प्रति', 'सिन्दूर तिलकित भाल', 'तुम्हारी दंतुरित मुस्कान' आदि कविताएँ इनकी उत्तम प्रगतिवादी कविताएँ हैं।

रांधेय राघव बहुमुखी प्रतिभा के प्रगतिवादी कवि हैं। 'अजेय खंडहर', 'मेधावी' और 'पांचाली' उनकी प्रबंधात्मक कृतियाँ हैं। रांधेय राघव की कविताओं में समाजवादी चिन्तन और उससे अनुप्राणित सामाजिक संवेदना की शक्ति है। अन्य प्रमुख कवियों में शिवमंगलसिंह सुमन (1915), त्रिलोचन (1917), मुक्तिबोध, अज्ञेय, भारतभूषण अग्रवाल, भवानीप्रसाद मिश्र, नरेश मेहता, शमशेर बहादुर सिंह, धर्मवीर भारती आदि हैं।

प्रयोगवाद और नई कविता—

हिंदी काव्य में 'प्रयोगवाद' का प्रारंभ सन् 1943 में अज्ञेय द्वारा संपादित 'तार सप्तक' के प्रकाशन से माना जाता है। जो कविताएँ नए बोध, संवेदनाओं तथा शिल्पगत चमत्कारों के साथ सामने आईं उन कविताओं के लिए 'प्रयोगवाद' शब्द रूढ़ हो गया। वैसे 'प्रयोगवाद' शब्द भ्रामक है। इससे यह आशय कदापि नहीं निकलता कि कविताओं में नए-नए प्रयोग करना ही कवियों का प्रमुख उद्देश्य है। अज्ञेय जी ने प्रयोगवाद को स्पष्ट करते हुए कहा है – "प्रयोग अपने आप में इष्ट

नहीं है, वरन् वह साधन है; दोहरा साधन है। एक तो वह उस सत्य को जानने का साधन है जिसे कवि प्रेषित करता है...दूसरे वह उस प्रेषण-क्रिया को और उसके साधनों को जानने का साधन है।" इस समय के कवियों के दृष्टिकोण और कथ्य एक ही प्रकार के नहीं हैं। प्रयोगवादी कविताओं में ह्यासोन्मुख मध्यवर्गीय समाज के जीवन का चित्रण है।

प्रथम 'तार सप्तक' (1943) के 7 कवि नेमिचन्द्र जैन, गजानन माधव मुक्तिबोध, भारतभूषण अग्रवाल, प्रभाकर माचवे, गिरिजा कुमार माथुर, रामविलास शर्मा तथा अज्ञेय हैं।

द्वितीय 'तार सप्तक' (1951) के 7 कवि भवानीप्रसाद मिश्र, शकुन्तला माथुर, हरिनारायण व्यास, शमशेर बहादुर सिंह, नरेश मेहता, रघुवीर सहाय और धर्मवीर भारती हैं।

अज्ञेय के सम्पादकत्व में ही तीसरा 'तार सप्तक' (1959) निकला, जिसके कवि हैं – प्रयागनारायण त्रिपाठी, कुंवर नारायण, कीर्ति चौधरी, केदारनाथ सिंह, मदन वात्स्यायन, विजयदेव नारायण साही, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना।

प्रयोगवादी कवि यथार्थवादी हैं। वे भावुकता के स्थान पर ठोस बौद्धिकता को स्वीकार करते हैं। वे कवि मध्यवर्गीय व्यक्ति के जीवन की समस्त जड़ता, कुण्ठा, अनास्था, पराजय और मानसिक संघर्ष के सत्य को बड़ी बौद्धिकता के साथ उद्घाटित करते हैं। छायावादी कवियों की तुलना में प्रयोगवादी धारा के कवियों ने दमित यौन-वासना के नग्न रूप को प्रस्तुत किया। लघुमानव को उसकी समस्त हीनता और महत्ता के संदर्भ में प्रस्तुत करके प्रयोगवादी कविता ने उसके प्रति सहानुभूतिपूर्ण दृष्टि से सोचने के लिए एक नया रास्ता खोला।

नई कविता

प्रयोगवाद का विकास ही कालान्तर में 'नई कविता' के रूप में हुआ। वस्तुतः प्रयोगवाद और नई कविता में कोई सीमा रेखा नहीं खींची जा सकती। बहुत से कवि जो पहले प्रयोगवादी रहे, बाद में नई कविता के प्रमुख हस्ताक्षर बन गए। इस प्रकार ये दोनों एक ही काव्यधारा के विकास की दो अवस्थाएँ हैं। सन् 1943 ई. से 1953 ई. तक की कविताओं में जो नवीन प्रयोग हुए, नई कविता उन्हीं का परिणाम है। 1943 से 1953 तक की कविता को प्रयोगवादी एवं 1953 के बाद की कविता को नई कविता की संज्ञा दी जा सकती है।

नई कविता की पहली विशेषता जीवन के प्रति उसकी आस्था है। इन कविताओं में आज की क्षणवादी और लघु-मानववादी दृष्टि जीवन-मूल्यों के प्रति नकारात्मक नहीं, सकारात्मक स्वीकृति है। नई कविता में जीवन को पूर्णरूप से स्वीकार करके उसे भोगने की लालसा दिखाई देती है। अनुभूति की सच्चाई नई कविता में दिखाई देती है। समाज की अनुभूति कवि की अनुभूति बनकर ही कविता में व्यक्त हुई है। नई कविता जीवन के एक-एक क्षण को सत्य मानती है और उस सत्य को पूरी हार्दिकता और पूरी चेतना से भोगने का समर्थन करती है। नई कविता में जीवन-मूल्यों की फिर से नए दृष्टिकोण से व्याख्या की गई है। नई कविता में व्यंग्य के रूप में पुराने मूल्यों को अस्वीकार किया गया है। लोक-सम्पृक्ति नई कविता की खास विशेषता है। वह सहज लोक-जीवन के करीब पहुँचने का प्रयत्न करती है। कुल मिलाकर नई कविता में नवीनता,

बौद्धिकता, अतिशय वैयक्तिकता, क्षणवादिता, भोग एवं वासना, यथार्थवादिता, आधुनिक युग बोध, प्रणयानुभूति, लोक संस्कृति, नया शिल्प विधान आदि विशेषताएँ परिलक्षित होती हैं।

प्रयोगवाद एवं नई कविता के प्रमुख कवि

अज्ञेय – सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय' का जन्म (1911–1987) कसया (देवरिया) में हुआ। इनका जीवन यायावरी और क्रांतिकारी रहा। उन्होंने 'दिनमान' और 'प्रतीक' का कुशलतापूर्वक संपादन किया। 'तार सप्तक', 'दूसरा सप्तक', 'तीसरा सप्तक' और 'रूपाम्बरा' इनके द्वारा संपादित काव्य संकलन हैं। इनकी काव्य कृतियाँ हैं – हरी घास पर क्षण भर, बावरा अहेरी, इन्द्रधनुष रौंदे हुए ये, अरी ओ करुणा प्रभामय, आंगन के पार द्वार, कितनी नावों में कितनी बार, सागर मुद्रा, महावृक्ष के नीचे, क्योंकि मैं उसे जानता हूँ, नदी की बाँक पर छाया, असाध्य वीणा, इत्यलम।

गिरिजाकुमार माथुर – इनका जन्म मध्यप्रदेश में सन् 1919 में हुआ। माथुर में प्रयोग और संवेदना का बहुत सुंदर सामंजस्य है। कवि ने छन्द, भाषा और बिम्ब-विधान सभी में प्रयोग किए हैं। इनकी काव्य कृतियाँ हैं – मंजीर, नाश और निर्माण, धूप के धान, साक्षी रहे वर्तमान, भीतरी नदी की यात्रा, शिलापंख चमकीले, छाया मत छूना मन, पृथ्वीकल्प, कल्पांतर। 'तार सप्तक' में व्यक्तिगत अनुभूतियाँ हैं तो 'नाश और निर्माण', 'धूप के धान', 'शिलापंख चमकीले' में सामाजिक जीवन की अनुभूतियाँ और यथार्थ उभरते गए हैं।

गजानन माधव मुक्तिबोध – इनका (1917–1964) का जन्म ग्वालियर के एक कस्बे में हुआ था। मुक्तिबोध एक ऐसे कवि हैं जिनका अनुभव जगत बहुत व्यापक है। जीवन के विभिन्न दृष्टिकोणों को लेकर विकसित होने वाली नई कविता के अग्रज कवि सच्चे अर्थों में मुक्तिबोध ही हैं। उनकी सबसे बड़ी शक्ति है— लोक-परिवेश से गहरी सम्पृक्ति तथा जन-जीवन में विश्वास। इनकी काव्य रचनाएँ हैं – चाँद का मुँह टेढ़ा है, भूरी-भूरी खाक धूल।

भवानीप्रसाद मिश्र— (1914–1985) ये सहज संवेदना के कवि हैं। कवि की संवेदना कहीं तो बहुत सूक्ष्म और आत्मगत है, कहीं बहुत प्रत्यक्ष है। इनकी काव्य रचनाएँ हैं – कमल के फूल, वाणी की दीनता, टूटने का सुख, सतपुड़ा के जंगल, सन्नाटा, गीत फरोश, चकित है दुःख, अन्धेरी कविताएँ, गाँधी पंचशती, बुनी हुई रस्सी आदि।

शमशेर बहादुर सिंह – इनका जन्म सन् 1911 में देहरादून में हुआ। ये व्यक्तिवादी और रुमानी कवि हैं। उनकी अधिकांश कविताओं का स्वर कुण्ठित प्रेम का है। इनकी रचनाएँ हैं – दूसरा सप्तक में संकलित कविताएँ, चुका भी नहीं हूँ मैं, इतने पास अपने, काल तुझसे होड़ मेरी, बात बोलेगी हम नहीं, उदिता।

धर्मवीर भारती – इनका जन्म सन् 1926 में इलाहाबाद में हुआ। ये धर्मयुग के संपादक रहे। भारती जी में आदिम गन्ध की तड़प और लोक-जीवन की रुमानी छवि की पकड़ है। इसलिए इनकी कविताएँ गीतात्मक हैं। इनकी कविताओं में लोक-परिवेश की मस्ती और उल्लास के स्थान

पर उदासी और सूनापन ही अधिक उभरता है। इनकी काव्यकृतियाँ हैं – अन्धायुग, कनुप्रिया, सात गीत वर्ष, ठण्डा लोहा, देशान्तर।

छायावादोत्तर गद्य साहित्य

नाटक

इस काल में हिंदी नाटक रंगमंच और जीवन के यथार्थ से जुड़कर नई दिशा की ओर उन्मुख हुआ। हिंदी नाट्य लेखन का सूत्रपात भारतेन्दु कर चुके थे किन्तु भारतेन्दु के बाद प्रसाद को दिशा-निर्देशक नाटककार स्वीकार किया जाता है। प्रसाद के नाटकों के साथ समस्या यह थी कि वे रंगमंचीय नहीं थे और रोमांटिसिज़्म से बाहर नहीं निकल सके थे। वस्तुतः उपेन्द्रनाथ अशक पहले नाटककार हैं जिन्होंने हिंदी नाटक को रोमांस के कठघरे से निकालकर किसी सीमा तक आधुनिक भावबोध के साथ जोड़ा। यद्यपि उनके 'जय-पराजय' (1937) पर प्रसाद के रोमांटिसिज़्म की छाया है किन्तु 'छठा बेटा' (1940) उस प्रभाव से मुक्त है। अशक जी के अन्य नाटक हैं – 'कैद' (1945), 'उड़ान' (1946), 'भंवर' (1950), 'अंजो दीदी' (1954), 'अंध गली' और 'पैंतरे'।

विष्णु प्रभाकर, जगदीशचन्द्र माथुर, धर्मवीर भारती, डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल, मोहन राकेश आदि प्रमुख नाटककार हैं। विष्णु प्रभाकर का 'डॉक्टर', जगदीशचन्द्र माथुर के 'कोणार्क', 'शारदीया', 'पहला राजा' (1969) उल्लेखनीय है। आधुनिक भावबोध को रूपायित करने वाले नाटकों में धर्मवीर भारती का गीति-नाट्य 'अन्धा युग' (1955) विशेष उल्लेखनीय है। डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल ने कई नाटकों की रचना की है, जिनमें 'अन्धा कुआँ' (1955), 'मादा केक्टस' (1959), 'तीन आंखों वाली मछली' (1960), 'सुन्दर रस, सूखा सरोवर' (1960), 'रक्त कमल' (1962), 'रात रानी' (1962), दर्पन (1963), 'सूर्यमुख' (1968), 'मिस्टर अभिमन्यु' (1971), 'करफ्यू' (1972), 'कलंकी' आदि। मोहन राकेश गहन मानवीय त्रासदी को नाटकीय स्थितियों में रचनात्मक ढंग से आंकने वाले नाटककार हैं। उनके 'आषाढ़ का एक दिन' (1958), 'लहरों के राजहंस' (1963), और 'आधे-अधूरे' (1969) तीन नाटक हैं।

इस काल में गीति-नाट्य भी प्रचुर मात्रा में लिखे गए। 'अन्धा-युग' के बाद सुमित्रानन्दन पन्त ने 'रजतशिखर', 'शिल्पी', और 'सौवर्ण' लिखे। सेठ गोविन्ददास ने 'स्नेह या स्वर्ग' (1946), 'कर्ण' (1942), 'शशिगुप्त' (1942), 'हिंसा और अहिंसा' (1940), 'संतोष कहाँ' (1941) लिखे। गिरजाकुमार माथुर के 'कल्पान्तर', 'सृष्टि की सांझ', 'लौह देवता', 'संघर्ष', दुष्यन्तकुमार का 'एक कण्ठ विषपायी' (1963) उल्लेखनीय है।

छायावादोत्तर काल के अन्य प्रमुख नाटककार एवं नाटक हैं – लक्ष्मीनारायण मिश्र 'अपराजित', 'चक्रव्यूह', हरिकृष्ण प्रेमी 'आहुति' (1940), 'स्वप्नभंग' (1940), 'विषपान' (1945), 'सांपों की सृष्टि', 'उदार', 'अमृत पुत्री' (1972) 'बन्धन' (1940), 'छाया' (1941)। गोविन्दवल्लभ पन्त ने दो उल्लेखनीय नाटकों की रचना की 'सुहाग बिन्दी' (1940) तथा 'ययाति' (1947)। उदयशंकर भट्ट के नाटकों में बौद्धिकता, मनोविज्ञान और यथार्थपरकता है। इनके नाटक 'शक विजय' (1953), 'क्रांतिकारी' (1954), 'नया समाज' (1955), 'पार्वती' (1960) हैं। जगन्नाथ प्रसाद 'मिलिन्द' ने 'समर्पण' (1950), 'गौतम नन्द' (1952) लिखे।

छायावादोत्तर काल की अन्य नाट्यकृतियों को मोटे रूप से तीन श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है – (1)स्वतंत्र भारत में व्याप्त भ्रष्टाचार से सम्बद्ध नाटक। (2) पीढ़ीगत संघर्षों का नैतिक मूल्यों से सम्बद्ध नाटक। (3) चीनी आक्रमण से सम्बद्ध नाटक। चन्द्रगुप्त विद्यालंकार के 'न्याय की रात' और विनोद रस्तोगी के 'आजादी के बाद' तथा 'नया हाथ' प्रथम वर्ग में आते हैं। दूसरे वर्ग में नरेश मेहता के 'सुबह के घण्टे' और 'खण्डित यात्राएँ' तथा मन्नू भण्डारी के 'बिना दीवार का घर' का उल्लेख किया जा सकता है। तृतीय वर्ग में 'शिव प्रसाद सिंह' के 'घाटियां गूंजती हैं' और ज्ञानदेव अग्निहोत्री के 'नेफा की एक शाम' उल्लेखनीय है।

विपिन कुमार के 'तीन अपाहिज' (1963), ज्ञानदेव अग्निहोत्री के 'शुतुरमुर्ग' (1968), गिरिराज किशोर के 'नरमेघ', सुरेन्द्र वर्मा के 'द्रौपदी'(1970) और सर्वेश्वरदयाल सक्सेना के 'बकरी' नवीन आधुनिक भावबोध के नाटक हैं। इनमें वर्तमान जीवन में व्याप्त अनास्था, उद्देश्यहीनता और विसंगतियों को अत्यन्त सशक्त अभिव्यक्ति प्राप्त हुई है।

एकांकी नाटक

प्रारंभ में हिंदी एकांकी को एक स्वतंत्र विधा के रूप में नहीं माना गया किन्तु 1940 ई. के बाद इसे स्वतंत्र विधा के रूप में मान लिया गया। इस समय के प्रमुख एकांकीकार हैं—भुवनेश्वर, रामकुमार वर्मा, उदयशंकर भट्ट, अशक, सेठ गोविन्ददास, जगदीशचन्द्र माथुर आदि। भुवनेश्वर ने 'तांबे के कीड़े', आजादी की नींव, सिकन्दर आदि एकांकी लिखे। रामकुमार वर्मा इस काल के प्रमुख एकांकीकार हैं। इनके एकांकियों का मूल स्वर आदर्शवादी है। इनके एकांकी संग्रह हैं – 'रेशमी टाई', 'चारुमित्रा', 'विभूति', 'सप्तकिरण', 'रजत रश्मि', 'दीपदान', 'ऋतुराज', 'रिमझिम', 'इन्द्रधनुष', 'पांचजन्य', 'कोमुदी महोत्सव', 'मयूर पंख', 'जूही के फूल' आदि। उदयशंकर भट्ट ने 1938 के आस-पास एकांकी लेखन आरंभ किया। भट्ट जी ने अपने एकांकियों को नवजीवन की ज्वलंत समस्याओं से जोड़ने की कोशिश की है। 'स्त्री का हृदय', 'चार एकांकी', 'समस्या का अन्त', 'धूमशिखा', 'अन्धकार और प्रकाश', 'आदिम युग', 'पर्दे के पीछे', 'आज का आदमी', 'सात प्रहसन' आदि इनके एकांकी संकलन हैं।

हिंदी एकांकीकारों में उपेन्द्रनाथ अशक का विशिष्ट स्थान है। 'देवताओं की छाया में', 'चरवाहे', 'पक्का गाना', 'पर्दा उठओ पर्दा गिराओ', 'अन्धी गली', 'साहब को जुकाम है', 'पच्चीस श्रेष्ठ एकांकी' आदि उनके एकांकी संग्रह हैं। उनके एकांकियों के विषय पारिवारिक जीवन के विविध क्षेत्र हैं। सेठ गोविन्ददास के एकांकियों के विषय राजनीतिक-सामाजिक क्षेत्र से जुड़े हैं। वे स्वयं कुशल एवं कर्मठ राजनीतिज्ञ थे। 'सप्तरश्मि', 'एकादशी', 'पंचभूत', 'चतुष्पथ' आदि इनके एकांकी संग्रह हैं। हरिकृष्ण प्रेमी के एकांकी संग्रह हैं – 'मातृ मन्दिर', 'राष्ट्र मन्दिर', 'मान मन्दिर', 'न्याय मन्दिर', 'वाणी मन्दिर' आदि। जगदीशचन्द्र माथुर के दो एकांकी संग्रहों – 'भोर का तारा' और 'ओ मेरे सपने' में जीवन की नवीन समस्याओं को रूपायित किया गया है।

विष्णु प्रभाकर ने आदर्शवाद, सांस्कृतिक चेतना, नैतिक मूल्यों और मनोविज्ञान को दृष्टि में रखकर सामाजिक एकांकियों की रचना की है। उनके 'प्रकाश और परछाई', 'इन्सान', 'बारह एकांकी', 'क्या वह दोषी था', 'दस बजे रात', 'ऊँचा पर्वत गहरा सागर' तथा 'ये रेखाएँ ये दायरे'

एकांकी संग्रह हैं। इनके अतिरिक्त लक्ष्मीनारायण लाल, धर्मवीर भारती (नदी प्यासी थी), मोहन राकेश (अंडे के छिलके), भारतभूषण अग्रवाल, विनोद रस्तोगी, विमला लूथरा, रेवतीसरन शर्मा, प्रभाकर माचवे, गिरिजाकुमार माथुर (उमर कैद), चिरंजीत, सिद्धनाथ कुमार ने एकांकी और रेडियो एकांकी लिखे। लक्ष्मीनारायण लाल के 'ताजमहल के आंसू', 'पर्वत के पीछे', 'नाटक बहुरंगी' और 'दूसरा दरवाजा' आदि एकांकी संग्रहों में सामाजिक जीवन की यथार्थ अभिव्यक्ति, समस्याओं का सूक्ष्म समाधान और रंगमंचीय सार्थकता मिलती है।

उपन्यास

प्रेमचन्द के उपरान्त हिंदी उपन्यास कई मोड़ों से गुजरता हुआ दिखाई पड़ता है, जिन्हें स्थूल रूप से तीन दशकों में बाँटा जा सकता है – 1950 ई. तक के उपन्यास, 1950 से 1960 ई. तक के उपन्यास और साठोत्तरी उपन्यास। 1950 ई. का दशक मुख्यतः फ्रायड और मार्क्स की विचारधारा से प्रभावित है। 1960 का दशक प्रयोगात्मक विशेषताओं का है तथा 1960 के बाद आधुनिकतावादी विचारधारा से पोषित है। फ्रायड से प्रभावित उपन्यासकारों में जैनेन्द्र जी प्रमुख हैं। उनके उपन्यासों – 'कल्याणी', 'सुखदा', 'विवर्त', 'व्यतीत', 'जयवर्धन' आदि में मनोविज्ञान, दार्शनिकता, वैयक्तिकता आदि के विविध रूप उभरे हैं। उनके नारी-पात्र यदि एक ओर समाज की मर्यादाओं को बनाए रखना चाहते हैं, तो दूसरी ओर अपने अस्तित्व की पहचान भी करना चाहते हैं।

अज्ञेय के 'शेखर एक जीवनी' (1941) के प्रकाशन के साथ हिंदी उपन्यास की दिशा में एक नया मोड़ आया। इसके दो भाग हैं। उनका दूसरा उपन्यास 'नदी के द्वीप' (1951) है। जैनेन्द्र और अज्ञेय फ्रायड के मनोविज्ञान से प्रभावित हैं, तो इलाचन्द्र जोशी उसके मनोविश्लेषण से। इनका पहला उपन्यास 'घृणामयी' (1929) में प्रकाशित हो चुका था किंतु उन्हें प्रतिष्ठा 'सन्यासी' (1941) से मिली। इसके अतिरिक्त 'पर्दे की रानी' (1941), 'प्रेत और छाया', 'निर्वसित' (1946), 'मुक्तिपथ' (1950), 'जिप्सी', 'जहाज का पंछी' (1955), 'ऋतुचक्र', 'भूत का भविष्य' (1973) आदि उनके प्रमुख उपन्यास हैं। यशपाल ने दो ऐतिहासिक उपन्यास 'अमिता' और 'दिव्या' लिखे किन्तु इनके शेष उपन्यास समाजवादी यथार्थ का चित्र प्रस्तुत करते हैं जिनमें 'दादा कामरेड' (1941), 'देशद्रोही' (1942), 'पार्टी कामरेड' (1943), 'मनुष्य के रूप' (1949), 'झूठा सच' (दो भाग 1958-1960) हैं।

यशपाल की परंपरा के दूसरे उपन्यासकार रामेश्वरशुक्ल अंचल हैं। उन्होंने 'चढ़ती धूप' (1945), 'नयी इमारत' (1946), 'उल्का' (1947) और 'मरुप्रदीप' (1951) उपन्यास लिखे। भगवतीचरण वर्मा, उपेन्द्रनाथ अशक, अमृतलाल नागर प्रेमचंद परंपरा के उपन्यासकार हैं। उन्होंने 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते', 'आखिरी दांव', 'भूले-बिसरे चित्र', 'सामर्थ्य और सीमा', 'रेखा' और 'सबहिं नचावत राम गुसाई' उपन्यास लिखे। उपेन्द्रनाथ अशक 'गिरती दीवारें' (1947) इनका प्रसिद्ध उपन्यास है। 'शहर में घूमता आईना' और 'एक नन्ही कन्दील' इस उपन्यास के अगले खण्ड हैं। 'गर्म राख' (1952), 'बड़ी-बड़ी आंखें' (1954) तथा 'पत्थर-अल-पत्थर' (1957) इनके अन्य उल्लेखनीय उपन्यास हैं।

अमृतलाल नागर का विशेष स्थान है। उन्होंने अपने उपन्यासों में व्यक्ति और समाज के सापेक्षिक संबंधों को चित्रित किया है। 'नवाबी मसनद', 'सेठ बांकेमल', 'महाकाल', 'बूँद और समुद्र', 'अमृत और विष', 'शतरंज के मोहरे', 'सुहाग के नूपुर', 'एकदा नैमिषारण्ये', और 'मानस का हंस'(1962) इनके प्रसिद्ध उपन्यास हैं।

ऐतिहासिक उपन्यासकारों में वृन्दावनलाल वर्मा, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, यशपाल, राहुल सांकृत्यायन और रांघेय राघव प्रमुख हैं। वृन्दावनलाल वर्मा ने 'विराटा की पद्मिनी', 'झांसी की रानी', 'कचनार', 'मृगनयनी', 'अहिल्याबाई', 'माधोजी सिंधिया', 'भुवनविक्रम' आदि ऐतिहासिक उपन्यास लिखे। हजारी प्रसाद द्विवेदी जी ने 'बाणभट्ट की आत्मकथा', 'चारुचन्द्रलेख' और 'पुनर्नवा' उपन्यास लिखे। यशपाल ने 'दिव्या', राहुल जी ने 'सिंह सेनापति' और 'जय यौधेय' और रांघेय राघव ने 'मुर्दा का टीला' मोहनजोदड़ो की सभ्यता पर लिखा। चतुरसेन शास्त्री का 'वैशाली की नगरवधू' भी उल्लेखनीय उपन्यास है।

1950 के बाद ग्रामांचल, मनोवैज्ञानिक और सामाजिक चेतना के उपन्यास लिखे गए। फणीश्वरनाथ रेणु के उपन्यास सही अर्थों में आंचलिक हैं। उनका 'मैला आंचल' (1954) विशेष प्रसिद्ध हुआ। 'मैला आंचल' और 'परती परिकथा' में ग्रामांचलों के जितने सवाक् और विशद चित्र देखने को मिलते हैं उतने अन्य आंचलिक उपन्यासों में नहीं मिलते। नागार्जुन 'बलचनमा' (1952), 'रतिनाथ की चाची', 'नयी पौध', 'बाबा बटेसरनाथ', 'दुखमोचन', 'वरुण के बेटे' आदि उल्लेखनीय आंचलिक उपन्यास हैं। उदयशंकर भट्ट का 'सागर, लहरें और मनुष्य' (1956), रांघेयराघव का 'कब तक पुकारूँ', भैरवप्रसाद गुप्त का 'सती मैया का चौरा', राही मासूम रजा का 'आधा गाँव', शिवप्रसाद सिंह का 'अलग-अलग वैतरणी' उल्लेखनीय उपन्यास हैं।

मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में धर्मवीर भारती का 'गुनाहों का देवता', देवराज के 'पथ की खोज', 'बाहर भीतर', 'रोड़े और पत्थर', 'अजय की डायरी', 'मैं, वे और आप' प्रमुख हैं। सामाजिक चेतना के उपन्यासों में मन्मथनाथ गुप्त, भैरवप्रसाद गुप्त, अमृतराय, लक्ष्मीनारायण लाल, राजेन्द्र यादव आदि प्रमुख हैं। मन्मथनाथ गुप्त का 'बहता पानी' (1955), भैरवप्रसाद गुप्त के 'मशाल' और 'गंगा मैया' तथा अमृतराय कृत 'बीज', 'नागफनी का देश' और 'हाथी के दाँत' लक्ष्मीनारायण लाल के 'मन वृन्दावन', 'धरती की आँखें', 'काले फूल का पौधा' और 'रूपाजीवा' तथा राजेन्द्र यादव के 'प्रेत बोलते हैं', 'उखड़े हुए लोग', 'एक इंच मुस्कान' उल्लेखनीय हैं।

आधुनिक भाव बोध के उपन्यासों में यन्त्रीकरण, दो महायुद्धों और अस्तित्ववादी चिन्तन के फलस्वरूप आधुनिकता की जो स्थिति उत्पन्न हुई है उसे लेकर भी उपन्यास लिखे गए। मोहन राकेश ने अपने उपन्यास 'अंधेरे बन्द कमरे' (1961) आस्थाविहीन समाज, अनिश्चय की स्थिति में लटके इंसान की मनःस्थिति को अभिव्यक्ति दी। निर्मल वर्मा का 'वे दिन' आधुनिक संवेदना से सम्पन्न उपन्यास है। राजकमल चौधरी का उपन्यास 'मरी हुई मछली', श्रीकान्त वर्मा का 'दूसरी बार', महेन्द्र भल्ला का 'एक पति के नोट्स', कमलेश्वर का 'डाक बंगला' और 'काली आंधी', गंगा प्रसाद विमल का 'अपने से अलग' आदि उपन्यास भी आधुनिक बोध की रचनाएँ हैं। श्रीलाल शुक्ल का 'राग दरबारी' रिपोर्टाज शैली में लिखा गया उल्लेखनीय उपन्यास है।

कहानी

कहानी एक प्रमुख विधा है। नयी कविता के सादृश्य पर 'नयी कहानी' विकसित हुई। उसके बाद सचेतन कहानी, अ-कहानी आंदोलन भी चले। 1950 के आस-पास की कहानियों में वैयक्तिकता का दबाव बढ़ता गया। प्रगतिवाद और मार्क्सवाद से हमारा मोहभंग हुआ। स्वतंत्रता प्राप्ति का उल्लास भी कहानियों में दिखा किंतु शीघ्र ही स्वतंत्रता से प्राप्त होने वाले सुख के प्रति रोमानी मोह टूट गया और व्यक्ति एक तरह के अलगाव के घेरे में खड़ा हो गया। 1962 में भारत-चीन युद्ध ने हमें रोमैंटिक छद्मावरण से यथार्थ की भूमि पर ला पटका, जिससे सातवें दशक में संत्रास, अलगाव, बेगानेपन और ऊब से संबंधित कहानियाँ सामने आईं।

यशपाल ने प्रगतिवाद के प्रेरित होकर धन की विषमता पर प्रहार किए। उनके कहानी संग्रह हैं – 'पिंजड़े की उड़ान', 'वो दुनिया', 'अभिषप्त', 'तर्क का तूफान', 'भस्मावृत चिनगारी', 'फूलों का कुर्ता', 'उत्तमी की मां', 'सच बोलने की भूल', 'तुमने क्यों कहा कि मैं सुन्दर हूँ' आदि। अज्ञेय ने मुख्यतः व्यक्ति के आत्मसंघर्ष तथा व्यक्ति और परिवेश के संघर्ष का चित्रण किया है। उनके 'विपथगा', 'परम्परा', 'कोठरी की बात', 'शरणार्थी', 'जयदोल', 'अमर वल्लरी' और 'ये तेरे प्रतिरूप' प्रसिद्ध कहानी संग्रह हैं।

इलाचन्द्र जोशी ने अपनी कहानियों में मनोवैज्ञानिक केस-हिस्ट्री पियरी है। इस दिशा में अग्रसर होने वाले वे अकेले कहानीकार हैं। 'खंडहर की आत्माएँ', 'डायरी के नीरस पृष्ठ', 'आहुति' और 'दीवाली' उनके प्रमुख कहानी-संग्रह हैं। अशक की कहानियों में विविधता के दर्शन होते हैं। विष्णुप्रभाकर, कमल जोशी, निर्गुण, भैरवप्रसाद गुप्त, अमृतराय आदि अपेक्षाकृत नई पीढ़ी के कहानीकार हैं। विष्णुप्रभाकर की 'धरती अब भी घूम रही है' कहानी नए बोध के निकट है। कमल जोशी की 'शिराजी' और 'पत्थर की आँखें' चर्चित कहानियाँ हैं।

सन् 1950 के बाद हिंदी कहानियों में दो विरोधी स्वर सुनाई पड़ते हैं – मूल्यवादी स्वर और विघटित मूल्यों के परिवेश में चीख, त्रास या बदले हुए रिश्तों का स्वर। छठे दशक में ग्रामांचल के साथ-साथ कस्बों और नगरों की कहानियाँ भी लिखी गईं। ग्रामांचल के कहानीकारों में शिवप्रसाद सिंह, मार्कण्डेय और फणीश्वरनाथ रेणु के नाम मुख्य हैं। इसके पहले गाँव अपने परिपार्श्व की पूर्णता में चित्रित नहीं हो पाए थे, किन्तु इन लेखकों ने गाँव के जो चित्र या चरित्र प्रस्तुत किए, वे मूलतः रोमैंटिक थे। मार्कण्डेय जी के कहानी संग्रह हैं – 'आरपार की माला', 'मुर्दा सराय', 'इन्हें भी इन्तजार है' आदि। उनके 'गुलरा के बाबा' और 'हंसा जाई अकेला' में अतीत के प्रति रोमानी दृष्टिकोण दिखाई पड़ता है। रोमैंटिक यथार्थ का सर्वाधिक चटकीला, समग्र और आत्मीयतापूर्ण रंग रेणु की कहानियों में मिलता है। गाँव की धूल-माटी, आंगन की धूप, बैलों की घण्टियाँ, धान की झुकी हुई बालियाँ, गमकता चावल, मेला-ठेला, हँसी-ठिठोली आदि के वर्णन में गाँव ही नहीं, पूरा अंचल अभर आता है। इस दृष्टि से 'लाल पान की बेगम' और 'तीसरी कसम' विशेष रूप से द्रष्टव्य हैं।

साठ के दशक में युगीन संक्रमण और तनाव भी कहानियों में दिखाई देता है। मोहन राकेश तनावों के कहानीकार हैं। मोहन राकेश की कहानियों में 'मलबे का मालिक', 'एक और

जिन्दगी' विशेष कहानियाँ हैं। उनके कहानी संग्रह हैं – नये बादल, जानवर और जानवर, एक और जिन्दगी आदि। राजेन्द्र यादव की कहानियों में आधुनिक भाव बोध को व्यापक सामाजिकता से जोड़ा गया है। उन्होंने निर्वैयक्तिकता पर विशेष बल दिया है। 'जहाँ लक्ष्मी कैद है', 'अभिमन्यु की आत्मकथा', 'छोटे-छोटे ताजमहल', 'किनारे से किनारे तक', 'प्रतीक्षा', 'टूटना और अन्य कहानियाँ', 'अपने पार' आदि उनके प्रमुख कहानी संग्रह हैं। कमलेश्वर की कहानियों में युगीन संक्रमण का मूल्यान्वेषी स्वर मिलता है। उनकी प्रसिद्ध कहानियाँ हैं – 'देवा की माँ', 'नीली झील', 'खोई हुई दिशाएँ', 'मांस का दरिया', 'यामा द पिट' आदि हैं।

इसी दशक में नरेश मेहता, रघुवीर सहाय, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, धर्मवीर भारती, कुंवर नारायण, रामदरश मिश्र आदि कवियों ने अपने-अपने ढंग से कहानियाँ लिखी हैं। नरेश मेहता की 'तथापि', 'निशाजी' पर काव्यगत रोमानी प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। भारती जी ने 'गुलकी बन्नो', 'सावित्री नं.2' और 'बंद गली का आखिरी मकान' जैसी कहानियाँ रची। लेखिकाओं में मन्नु भण्डारी, कृष्णा सोबती, शिवानी, उषा प्रियंवदा, रजनी पन्निकर, मेहरुन्निसा परवेज, आदि प्रमुख हैं। इनका संसार कुछ सीमा तक पुरुषों से अलग है। मन्नु भण्डारी के 'मैं हार गई', 'तीन निगाहों की एक तस्वीर' और 'यही सच है' आदि कहानी संग्रह लिखे। कृष्णा सोबती सेक्सजन्य भावुकता को ही उभारकर रह जाती हैं। शिवानी की कहानियों में नारी मनोविज्ञान को आधुनिक नए संदर्भों में देखा गया है। उषा प्रियंवदा आधुनिकता बोध की कथाकार हैं। उनका बोध भी नया और और भाषा भी अपेक्षाकृत संयमित है। 'जिन्दगी और गुलाब के फूल' तथा 'एक कोई दूसरा' उनके कहानी-संग्रह हैं।

सातवें दशक के आरंभ में निर्मल वर्मा की कहानियाँ विशेष चर्चित रहीं। उन्होंने हिंदी कहानी की परंपरा को छोड़कर अपने को पाश्चात्य परंपरा से जोड़ा है। 'परिन्दे' ऐसी ही एक कहानी है। उनकी 'लन्दन की एक रात' और 'कुत्ते की मौत' भी विशिष्ट स्थान रखती है। 70 के दशक में आधुनिकता बोध को लेकर लिखने वालों में रामकुमार, विजय चौहान और राजकमल चौधरी का उल्लेख भी आवश्यक है। सातवें दशक को मोहभंग का दशक कहना उचित होगा। चीन से पराजय के बाद पुरानी पीढ़ी के प्रति क्षोभ-आक्रोश का प्रारंभ यहीं से हुआ। इस दशक की कहानियों में ऊब, विघटन और सतही विद्रोहात्मक रवैया अधिक दिखाई पड़ता है। ज्ञानरंजन, दूधनाथ सिंह, गंगाप्रसाद विमल, गिरिराज किशोर, रवीन्द्र कालिया, महेन्द्र भल्ला, ज्ञानप्रकाश, काशीनाथ सिंह आदि इस दश के अन्य उल्लेखनीय कहानीकार हैं। ज्ञानरंजन की 'फेंस के इधर और उधर', 'पिता', दूधनाथ सिंह की 'रक्तपात', गंगाप्रसाद विमल की 'एक और विदाई', 'प्रश्नचिह्न' ऐसी ही कहानियाँ हैं। गिरिराज किशोर की 'पेपरवेट' संग्रह भी उल्लेखनीय है।

निबंध

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने वैचारिक निबंधों को उत्कर्ष की चरम ऊँचाई पर पहुँचा दिया था। शुक्ल जी के समीक्षात्मक निबंधों की परंपरा की अगली कड़ी के रूप में नन्ददुलारे वाजपेयी का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। जयशंकर प्रसाद 'आधुनिक साहित्य', 'नया साहित्य : नये प्रश्न' आदि संकलित निबंधों में उनकी सूक्ष्म पकड़, संतुलित दृष्टि, गत्यात्मकता और रचनात्मकता

का परिचय मिलता है। इस काल के सबसे महत्त्वपूर्ण निबंधकार हजारीप्रसाद द्विवेदी हैं। उनके ललित निबंधों में सांस्कृतिक विरासत के वर्चस्व के साथ नवीन जीवन-बोध, उत्कट जिजीविषा और नई सामाजिक समस्याओं के बीच राह पाने की लालसा सर्वत्र दिखाई देती है। द्विवेदी जी का व्यक्तित्व लचीला और निरन्तर विकासमान है। 'अशोक के फूल' (1948), 'विचार और वितर्क' (1949), 'कल्पलता' (1951), 'विचार-प्रवाह' (1959) और 'कुटज' उनके निबंध संग्रह हैं।

इस काल में जैनेन्द्र का स्थान भी काफी ऊँचा है। उन्होंने अपने निबंधों में दर्शनिक मुद्राओं को अपनाया है। नई अर्थवत्ता के प्रति जागरूक रहने के साथ ही उन्होंने निबंधों में सरसता का भी पूरा ध्यान रखा है। उन्होंने निबंधों में धर्म, राजनीति, संस्कृति, साहित्य, काम, प्रेम, विवाह आदि सभी विषयों पर विचार किया है। 'जड़ की बात', 'साहित्य का श्रेय और प्रेय', 'सोच-विचार', 'मन्थन', 'ये और वे', 'इतस्ततः' आदि उनके निबंध संग्रह हैं। हिंदी में प्रभाववादी समीक्षा के अग्रदूत शान्तिप्रिय द्विवेदी ने समीक्षात्मक निबंधों के अतिरिक्त साहित्येतर विषयों पर भी निबंध लिखे। वे प्रकृति से तरल, आत्मनिष्ठ और भावुक साहित्यकार थे। उनकी तरलता, सहृदयता और अन्तरंगता के दर्शन उनके निबंधों में सर्वत्र होते हैं। 'संचारिणी' (1939), 'युग और साहित्य' (1941), 'सामयिकी' (1944), 'धरातल' (1948), 'प्रतिष्ठान' (1953), 'साकल्य' (1955), 'आधान' (1957), 'वृत्त और विकास' (1959) आदि उनके प्रमुख निबंध संग्रह हैं।

रामधारीसिंह 'दिनकर' भी समय-समय पर महत्त्वपूर्ण निबंध लिखते रहे हैं। 'अर्धनारीश्वर', 'मिट्टी की ओर', 'रेती के फूल', 'हमारी सांस्कृतिक एकता', 'प्रसाद, पन्त और मैथिलीशरण', 'राष्ट्रभाषा और राष्ट्रीय साहित्य' उनके निबंध संग्रह हैं। उनके निबंधों में मानवीय आस्था का प्रतिफलन हुआ है, जिसका मूल आधार या तो मनोवैज्ञानिक है या सांस्कृतिक। समीक्षात्मक निबंधकारों में वैयक्तिकता का सर्वाधिक संस्पर्श डॉ. नगेन्द्र के निबंधों में मिलता है। 'यौवन के द्वार पर' और 'चेतना के बिम्ब' इनके निबंध संग्रह हैं। अज्ञेय अपने निबंधों में अपना अनुभूत लिखते हैं - 'त्रिशंकू', 'आत्मनेपद', और 'हिन्दी-साहित्य : एक आधुनिक परिदृश्य' में संगृहीत निबंधों में अनुभूत का वैचारिक विश्लेषण मिलता है। अज्ञेय ने कुछ निबंध 'कुट्टिचातन' के नाम से भी लिखे हैं। इस नाम से लिखे निबंधों का एक संग्रह 'सब रंग' शीर्षक से प्रकाशित हुआ है। उनके अन्य प्रकाशित निबंध संग्रह हैं - 'आलवाल' (1971), 'भवन्ति' तथा 'लिखि कागद कोरे' (1972)।

साहित्येतर विषयों पर ललित निबंधों की रचना की ओर अनेक लेखक प्रवृत्त हुए हैं। रामवृक्ष बेनीपुरी के निबंध 'गेहूँ और गुलाब' (1950) तथा 'वन्दे वाणी विनायको' (1957) में संगृहीत हैं। 'गेहूँ' भूख का प्रतीक है, तो गुलाब कला और संस्कृति का। श्रीराम शर्मा ने शिकार संबंधी रोचक निबंधों की रचना की है, जिसमें साहसिक वृत्तांतों को ग्रामीण पृष्ठभूमि, प्रकृति और अछूते मानवीय जीवन के मर्मस्पर्शी आयामों में चित्रित किया गया है। देवेन्द्र सत्यार्थी के निबंधों में धरती की साँधी गन्ध और लोकजीवन की ताजगी मिलती है, जिसका श्रेय उनकी घुमक्कड़ जिन्दगी को है। 'धरती गाती है', 'एक युग : एक प्रतीक' और 'रेखाएँ बोल उठीं' उनके निबंध संग्रह हैं। भदन्त आनन्द कोसल्यायन के निबंधों में भी उनकी घुमक्कड़ प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं। वासुदेवशरण अग्रवाल ने जहाँ 'पृथिवी-पुत्र' तथा 'कला और संस्कृति' के निबंधों में भारतीय संस्कृति के विविध

आयामों को उदघाटित किया है, वहीं यशपाल ने अपने निबंधों में मार्क्सवादी दृष्टिकोण को ग्रहण किया है। 'चक्कर क्लब', 'देखा सोचा समझा', 'बात बात में बात', 'गांधीवाद की शव परीक्षा', 'न्याय का संघर्ष' आदि में उनके शताधिक निबंध संगृहीत हैं।

बनारसीदास चतुर्वेदी के निबंध संग्रहों – 'साहित्य और जीवन', 'हमारे आराध्य' में भी मार्क्सवादी दृष्टिकोण मिलता है। माखनलाल चतुर्वेदी के निबंध 'अमीर इरादे : गरीब इरादे' (1960) में भावुकता का प्राधान्य है। कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर के निबंधों – 'जिन्दगी मुस्कराई', 'बाजे पायलिया के घुंघरू', 'महके आंगन चहके द्वार' आदि में शैली की स्पष्टता अधिक है। भगतवशरण उपाध्याय ने 'टूटा आम' और 'सांस्कृतिक निबंध' में इतिहास और संस्कृति की पृष्ठभूमि पर निबंध लिखे हैं। विद्यानिवास मिश्र ने अपने 'चितवन की छांह' (1953), 'तुम चन्दन हम पानी' (1957), 'आंगन का पंछी और बनजारा मन', 'मैंने सिल पहुँचाई', 'मेरे राम का मुकुट भीग रहा है' आदि निबंध संग्रहों में भारतीय साहित्य और संस्कृति को लोकजीवन के साथ जोड़ने का उन्मुक्त प्रयास किया है। धर्मवीर भारती ने हल्के-फुल्के विनोद द्वारा हिपोक्रेसी का पर्दाफाश करते हुए 'टेले पर हिमालय', 'कहनी-अनकहनी', 'पश्यन्ती' आदि निबंध संग्रह लिखे।

कुबेरनाथ राय हजारीप्रसाद द्विवेदी संस्थान के प्रमुख निबंधकार हैं। उनके निबंध संग्रहों – 'प्रिया नीलकंठी', 'रस आखेटक', 'गन्धमादन' और 'विषाद-योग' में सांस्कृतिक संदर्भों से झांकते जीवन के आधुनिक आयाम स्पष्ट हुए हैं। ललित निबंधों की परंपरा को समृद्ध करने वाले अन्य रचनाकार हैं – विवेकी राय 'फिर बैतलवा डाल पर', लक्ष्मीकान्त 'मैंने कहा', केदारनाथ अग्रवाल 'समय-समय पर', लक्ष्मीचन्द्र जैन 'कागज की किश्तियाँ' आदि।

हास्य-व्यंग्य लेखकों में बेढब बनारसी पहले व्यक्ति हैं जिन्होंने अपने निबंधों द्वारा इस दिशा में पहल की। श्रीनारायण चतुर्वेदी ने भी विनोद शर्मा के छद्म नाम से 'राजभवन की सिगरेटदानी' लिखा। 60 के दशक के प्रमुख व्यंग्यकारों में हरिशंकर परसाई, केशवचन्द्र वर्मा, लक्ष्मीकान्त वर्मा, भीमसेन त्यागी, रवीन्द्रनाथ त्यागी, शरद जोशी, नरेन्द्र कोहली आदि ने भी काफी संख्या में व्यंग्यात्मक निबंधों की सृष्टि की है। इनमें हरिशंकर परसाई प्रमुख हैं। उनके व्यंग्य सामान्यतः मूल्यगत विसंगतियों से संबद्ध होते हैं। 'भूत के पाँव', 'सदाचार का ताबीज' ओर 'निटल्ले की डायरी' उनके प्रसिद्ध व्यंग्य संग्रह हैं।

अन्य गद्य विधाएँ –

जीवनी साहित्य –

आलोच्य युग में जीवनी-साहित्य का बहुमुखी विकास हुआ। लोकप्रिय नेताओं, संत-महात्माओं, साहित्यकारों, विदेशी महापुरुषों, वैज्ञानिकों, खिलाड़ियों, उद्योगपतियों आदि से संबंधित जीवनियाँ प्रचुर मात्रा में लिखी गईं। महात्मा गांधी इस युग में सर्वप्रिय नेता थे अतः उनसे संबंधित जीवनियाँ खूब लिखी गईं। घनश्यामदास बिड़ला 'बापू' (1940), काका कालेलकर 'बापू की झांकियाँ' (1948), सुमंगल प्रकाश 'बापू के कदमों में' (1950), सुशीला नायर, डॉ. राजेन्द्र प्रसाद तथा जैनेन्द्र कुमार ने बापू पर जीवनियाँ लिखीं। इनके अतिरिक्त भगतसिंह, सुभाषचन्द्र बोस तथा नेहरू से संबंधित जीवनियाँ भी लिखी गईं।

भगतसिंह पर लिखी गई जीवनियों में पहली महत्त्वपूर्ण कृति रतनलाल बंसल की 'सरदार भगतसिंह' (1941) है। नेताजी सुभाषचन्द्र बोस पर हरिकृष्ण त्रिवेदी ने 'सुभाषचन्द्र बोस' (1941), छविनाथ पाण्डेय ने 'नेताजी सुभाष' (1946), गिरीशचन्द्र जोशी ने 'नेताजी सुभाषचन्द्र बोस' (1946) लिखी। इन कृतियों के माध्यम से सुभाषचन्द्र बोस के निजी जीवन के साथ-साथ नेतृत्व संबंधी गुणों का पता चलता है। चन्द्रशेखर आजाद के क्रांतिकारी जीवन को आधार बनाकर रतनलाल बंसल ने 'अमर शहीद चन्द्रशेखर आजाद' (1946) तथा विश्वनाथ वैशंपायन ने 'चन्द्रशेखर आजाद' (1965) कृतियों की रचना की। वैशंपायन आजाद के अंतरंग मित्र थे और उनके निजी सचिव थे।

भारतीय जन-जीवन में संत महात्मा सदा से पूज्य रहे हैं। अतः उनका उज्वल चरित्र तथा अमूल्य उपदेश इस देश के लोगों में नए उत्साह का संचार करता रहा है। विभिन्न लेखकों ने महात्मा बुद्ध, शंकराचार्य, आदि के जीवन को आधार बनाकर जीवनियाँ लिखीं। इस दृष्टि से भदन्त आनन्द कोशल्यायन ने 'भगवान बुद्ध' (1940), भवानीदयाल संन्यासी ने 'स्वामी शंकरानन्द' (1942), दीनदयाल उपाध्याय ने 'जगद्गुरु शंकराचार्य' (1947) नामक जीवनियाँ लिखीं।

इस युग में भारतीय इतिहास से संबद्ध महापुरुषों की जीवनियाँ भी लिखी गईं। इस संदर्भ में शिवाजी के जीवन को आधार बनाकर सर्वाधिक जीवनियाँ लिखी गईं। इनमें लाला लाजपतराय की 'छत्रपति शिवाजी' (1939) तथा भीमसेन विद्यालंकार विरचित 'शिवाजी' (1951) विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। सीताराम कोहली विरचित 'रंजीत सिंह' (1931), द्वारकाप्रसाद शर्मा कृत 'भीष्म पितामह' (1940), जीवनलाल प्रेम विरचित 'गुरु गोविन्द सिंह' (1941), चन्द्रबली त्रिपाठी कृत 'धर्मराज युधिष्ठिर' (1951) भी उल्लेखनीय हैं।

विदेशी महापुरुषों पर भी जीवनियाँ लिखी गईं। इनमें राहुल सांकृत्यायन तथा रामवृक्ष बेनीपुरी के नाम उल्लेखनीय हैं। राहुल जी ने 'स्तालिन' (1953), 'कार्ल मार्क्स' (1954) तथा 'माओ-चे-तुंग' (1956) नामक ग्रंथों की रचना की। रामवृक्ष बेनीपुरी ने 'रोजा लुक्जेम्बुर्ग' (1946) तथा 'कार्ल मार्क्स' (1951) नामक जीवनियाँ लिखीं। बनारसीदास द्वारा रचित 'अराजकतावादी लुई माइकेल' (1939), रामइकबाल सिंह द्वारा रचित 'स्तालिन' (1939), लक्ष्मणप्रसाद भारद्वाज विरचित 'इटली का तानाशाह मुसोलिनी' (1940) अन्य उल्लेखनीय कृतियाँ हैं।

साहित्यकारों में प्रेमचंद अत्यधिक लोकप्रिय रहे। प्रेमचंद को आधार बनाकर भी सर्वाधिक जीवनियाँ लिखी गईं। इनके इनकी पत्नी द्वारा 88 उपशीर्षकों के माध्यम से प्रेमचंद पर 'प्रेमचन्द घर में' (1956) नामक जीवनी लिखी, जो बहुत महत्त्वपूर्ण है। उनके पुत्र अमृतराय ने भी 'कलम का सिपाही' (1967) नाम से प्रेमचंद पर जीवनी लिखी। मदनगोपाल ने प्रेमचंद पर 'कलम का मजदूर' (1965) नामक जीवनी लिखी। प्रेमचंद के अतिरिक्त सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' पर कई जीवनियाँ लिखी गईं, जिनमें गंगाप्रसाद पाण्डेय द्वारा लिखित 'महाप्राण निराला' तथा रामविलास शर्मा द्वारा लिखित 'निराला की साहित्य साधना' (1969) विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। शांति जोशी द्वारा लिखित 'सुमित्रानन्दन पंत : जीवन और साहित्य' (1970) विष्णुप्रभाकर विरचित 'आवारा मसीहा' (1974) अन्य उल्लेखनीय कृतियाँ हैं। 'आवारा मसीहा' बंगला के प्रसिद्ध उपन्यासकार शरतचन्द्र

चट्टोपाध्याय के जीवन पर आधारित हिंदी जीवनी साहित्य की अन्यतम कालजयी कृति है। इनके अतिरिक्त विभिन्न क्षेत्रों के प्रमुख व्यक्तियों पर स्वतंत्र ग्रंथ भी खूब लिखे गए।

आत्मकथा –

इस काल में आत्मकथाएँ प्रचुर मात्रा में लिखी गईं। इस समय लगभग सभी प्रमुख साहित्यकारों ने अपनी आत्मकथा लिखी। श्यामसुन्दरदास, हरिभाऊ उपाध्याय, राहुल सांकृत्यायन, वियोगी हरि, यशपाल, स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, शांतिप्रिय द्विवेदी, देवेन्द्र सत्यार्थी, चतुरसेन शास्त्री, देवराज उपाध्याय, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, सेठ गोविन्ददास, पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र', संतराम बी.ए. , भुवनेश्वरप्रसाद मिश्र माधव, हरिवंशराय बच्चन, वृन्दावनलाल वर्मा रामविलास शर्मा आदि कुछ ऐसे हस्ताक्षर हैं जिनकी आत्मकथाओं का प्रकाशन इसी युग में हुआ। श्यामसुन्दरदास ने 'मेरी आत्मकहानी' (1941), हरिभाऊ ने 'साधना के पथ पर' (1946), राहुल सांकृत्यायन जी ने 'मेरी जीवन यात्रा' (पाँच खण्ड) लिखी। सत्यदेव परिव्राजक ने 'स्वतन्त्रता की खोज में' (1951), शांतिप्रिय द्विवेदी ने 'परिव्राजक की प्रजा' (1952), देवेन्द्र सत्यार्थी ने 'चाँद सूरज के वीरन' (1952), 'नील यक्षिणी' (1985) लिखी। सेठ गोविन्ददास ने अपनी आत्मकथा 'आत्म निरीक्षण' (1957), पाण्डेय बेचन शर्मा ने 'अपनी खबर' (1960) लिखी। हरिवंशराय बच्चन ने 'क्या भूलूँ क्या याद करूँ' (1969), 'नीड़ का निर्माण फिर' (1970), 'बसेरे से दूर' (1977) तथा 'दशद्वार से सोपान तक' (1985) शीर्षक से चार खण्डों में आत्मकथा लिखी।

इस कालखण्ड में राजनीतिक-सामाजिक क्षेत्र में काम करने वाले व्यक्तियों की आत्मकथाएँ भी प्रकाशित हुईं, जिनमें राजेन्द्रप्रसाद, भवानीदयाल संन्यासी, गणेशप्रसाद वर्णी, अजितप्रसाद जैन, अलगूराय शास्त्री, जानकीदेवी बजाज, नरदेव शास्त्री, बलदेवराज धवन, पृथ्वीसिंह आजाद, चतुर्भुज शर्मा, सुखदेवराज, मोरारजी देसाई तथा बलराज मधोक के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इस युग में हिंदी के आत्मकथा साहित्य को पत्रकारों, अध्यापकों, वकीलों, फिल्मी कलाकारों, पुलिस कर्मचारियों आदि ने भी समृद्ध किया। प्रायः सभी आत्मकथाकारों ने पारिवारिक जीवन की अपेक्षा अपने कार्यक्षेत्र संबंधी प्रकरणों को प्रमुखता दी है।

यात्रावृत्त –

यही वह युग है जिसमें हमारा देश स्वतन्त्र हुआ। स्वतन्त्रता प्राप्ति के फलस्वरूप भारत के विश्वभर के देशों के साथ राजनयिक एवं सांस्कृतिक संबंध जुड़े। इस कारण भारत के लोगों का विदेशों में खूब आना-जाना रहा। कुछ ने वहाँ रहकर आजीविका के साधनों का लाभ उठाया। प्रगतिवादी आंदोलनों के फलस्वरूप बहुत-से लोगों का ध्यान साम्यवादी देशों की यात्रा की ओर भी गया। इस दृष्टि से स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, कन्हैयालाल मिश्र आर्योपदेशक, सन्तराम, राहुल सांकृत्यायन, सेठ गोविन्ददास, पं. नेहरू, आदि उल्लेखनीय हैं। स्वामी सत्यदेव की 'मेरी पाँचवीं जर्मन यात्रा' (1955) अधिक सजीव नहीं है। कन्हैयालाल की 'मेरी इराक यात्रा' (1940), सन्तराम विरचित 'स्वदेश-विदेश यात्रा' (1940) उल्लेखनीय है।

इस समय रूप से सम्बद्ध यात्रावृत्त अधिक लिखे गए क्योंकि रूस से हमारे संबंध अधिक सुदृढ़ रहे हैं। रूस यात्रा से संबंधित डॉ. सत्यनारायण, (रोमांचक रूस) महेशप्रसाद श्रीवास्तव

(दिल्ली से मास्को), राहुल सांकृत्यायन (रूस में पच्चीस मास), यशपाल जैन (रूस में छियालीस दिन), रामकृष्ण रघुनाथ खडिलकर, बनारसीदास चतुर्वेदी, अक्षयकुमार जैन, डॉ. जगदीशचन्द्र जैन, डॉ. नगेन्द्र (तंत्रालोक से यंत्रालोक तक), लक्ष्मीदेवी चूडावत (हिन्दुकुश के उस पार) तथा दुर्गावती सिंह (सीधी सादी यादें) ने यात्रावृत्त लिखे। इसी प्रकार लेखकों ने चीन, जापन आदि अन्य देशों से संबंधित कई यात्राओं का वर्णन किया है। 'दिनकर' ने 'देश-विदेश'(1957) तथा 'मेरी यात्राएँ' (1970) में अपने यात्रावृत्तों को संकलित किया है जिनमें कश्मीर, सौराष्ट्र आदि भारतीय प्रदेशों के अतिरिक्त यूरोप-यात्रा के चित्र प्रस्तुत किए हैं।

इसी प्रकार स्वदेश-यात्रा संबंधी यात्रावृत्त भी पर्याप्त संख्या में प्रकाशित हुए हैं। स्वामी प्रणवानन्द तथा स्वामी रामानन्द द्वारा रचित 'कैलाश मानसरोवर' एवं 'कैलाश दर्शन' में हिमालय की पर्वत शृंखलाओं का सौन्दर्य साकार हो उठा है। विष्णु प्रभाकर के 'ज्योतिपुंज हिमालय' (1982), राहुल जी के 'किन्नर देश में', 'राहुल यात्रावलि' तथा 'दार्जिलिंग परिचय' यात्रा विषयक कृतियाँ उल्लेखनीय हैं। अज्ञेय ने 'अरे यायावर रहेगा याद' (1953) में असम से लेकर पश्चिमी सीमा प्रान्त तक की गई यात्रा का वर्णन किया है। यात्रावृत्तों को सृजनात्मक उपलब्धि का रूप देने वाली रचनाओं में मोहन राकेश कृत - 'आखिरी चट्टान तक' (1953) का उल्लेखनीय स्थान है। मुनि कांतिसागर द्वारा मूर्तियों की खोज के लिए यात्राएँ कीं जो 'खोज की पगडंडियाँ' (1953) और 'खण्डहरों का वैभव' (1953) में वर्णित है। प्रभाकर द्विवेदी ने 'पार उतरि कहां जइहों' (1958) में स्थानीय बोली का पुट देते हुए गोंडा तथा बस्ती जिले के लोक-जीवन का चित्र अंकित किया है।

विद्यानिधि सिद्धान्तालंकार ने 'शिवालिक की घाटियों में' (1953) शिकारी यात्राओं का कलात्मक वर्णन किया है। काका कालेलकर ने 'हिमालय की यात्रा' (1948) तथा 'सूर्योदय का देश' (1955), कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी ने 'बद्रीनाथ की ओर' (1959) तथा शंकर 'ए पार बांगला ओ पार बांगला' (1982) में भारत की छवि दिखाई है।

संस्मरण तथा रेखाचित्र

इस संबंध में 'हंस' का रेखाचित्र विशेषांक (मार्च, 1939, सम्पादक : श्रीपतराय) सर्वप्रथम उल्लेखनीय है। इन विधाओं के हिंदी लेखकों में बनारसीदास चतुर्वेदी (जन्म 1892) का अन्यतम स्थान है। उन्होंने 'हमारे आराध्य' (1952), और 'संस्मरण' (1953) शीर्षक संस्मरणात्मक रचनाओं तथा 'रेखाचित्र' (1952) एवं 'सेतुबंध' (1952) शीर्षक से रेखाचित्र संग्रहों को प्रस्तुत किया। श्रीराम शर्मा (जन्म 1912) अन्य प्रमुख संस्मरण एवं रेखाचित्रकार हैं। उनके 'प्राणों का सौदा' (1939), 'जंगल के जीव' (1949) और 'वे जीते कैसे हैं' (1957) उल्लेखनीय हैं। रामवृक्ष बेनीपुरी (जन्म 1902) अपने अद्भुत शब्द शिल्प के लिए प्रख्यात हैं। 'लाल तारा' (1938), 'माटी की मूरतें' (1943), 'गेहूँ और गुलाब' (1950) तथा 'मील के पत्थर' (1957) इनकी प्रसिद्ध कृतियाँ हैं।

हिंदी के संस्मरणात्मक रेखाचित्र-साहित्य की श्रीवृद्धि में महादेवी वर्मा ने अत्यधिक महत्त्वपूर्ण योगदान किया है। 'अतीत के चलचित्र' (1941), 'स्मृति की रेखाएँ' (1947), 'पथ के साथी' (1956), 'स्मारिका' (1971) और 'मेरा परिवार' (1972) उनके उल्लेखनीय रेखाचित्र संग्रह हैं।

इन दोनों विधाओं में विशेष योगदान देने के लिए प्रकाशचन्द्र गुप्त भी स्मरणीय हैं। 'पुरानी स्मृतियाँ' (1947) में इनके स्मृतिचित्र संकलित हैं तो 'रेखाचित्र' (1940) में निर्जीव वस्तुओं, स्थानों आदि पर लिखे गए रेखाचित्र प्रसिद्ध हैं। इस युग के अन्य संस्मरण लेखकों में राजा राधिकारमणप्रसाद सिंह का नाम भी उल्लेखनीय है। उनके 'टूटा तारा' (1940) में संकलित 'मौलवी साहब', 'देवी बाबा' आदि संस्मरण विशेष पठनीय हैं।

विनयमोहन शर्मा (जन्म 1905) का रेखाचित्र संग्रह 'रेखा और रंग' अपनी चुटीली शैली तथा मार्मिक चित्रण के लिए प्रख्यात है। कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर का 'जिन्दगी मुस्काई' (1953) में संकलित 'माटी हो गयी सोना' एवं 'दीप जले शंख बजे' (1959) में संगृहीत रेखाचित्र भी उल्लेखनीय हैं। शिवपूजन सहाय (1893-1962) के संस्मरण तथा रेखाचित्र 'वे दिन वे लोग' (1965) में संकलित हैं। सत्यवती मल्लिक (जन्म 1907) के संस्मरण और रेखाचित्र 'अमिट रेखाएँ' (1951) में संकलित हैं। देवेन्द्र सत्यार्थी (जन्म 1907) भावात्मक संस्मरण तथा रेखाचित्र लिखने के लिए प्रसिद्ध हैं। 'रेखाएँ बोल उठीं' (1949) उनका उल्लेखनीय संग्रह है। शांतिप्रिय द्विवेदी (1906-1967) की 'स्मृतियाँ और कृतियाँ' (1966) में उनके कवि हृदय की अभिव्यक्ति मिलती है।

उपेन्द्रनाथ अशक के भी 'रेखाएँ और चित्र' (1955), 'मंटो मेरा दुश्मन' (1956) और 'ज्यादा अपनी कम परायी' (1959) भी उल्लेखनीय रेखाचित्र हैं। राहुल सांकृत्यायन (1893-1963) का संस्मरण साहित्य 'बचपन की स्मृतियाँ', (1955), 'जिनका मैं कृतज्ञ' (1957), तथा 'मेरे असहयोग के साथी' में संकलित हैं। डॉ. नगेन्द्र 'चेतना के बिम्ब' (1967), जगदीश चन्द्र माथुर 'दस तस्वीरें' तथा 'जिन्होंने जीना जाना' (1971) सेठ गोविन्ददास (जन्म 1893) ने भी 'स्मृति कण' (1959) तथा 'चेहरे जाने पहचाने' (1966) संस्मरण तथा रेखाचित्र लिखे।

संस्मरण साहित्य को अलंकृत करने वाले कवियों में माखनलाल चतुर्वेदी 'समय के पाँव' (1962), रामधारीसिंह दिनकर 'लोकदेव नेहरू' (1965) तथा 'संस्मरण और श्रद्धांजलियाँ' (1969) तथा हरिवंशराय बच्चन 'नये पुराने झरोखे' (1962) उल्लेखनीय हैं।

आलोच्य युग में अन्य लेखकों ने भी मूल्यवान रचनाओं द्वारा हिंदी के संस्मरणात्मक रेखाचित्र-साहित्य को समृद्ध किया है। सत्यजीवन वर्मा 'भारतीय की एलबम' (1949), ओंकार शरद की 'लंका महाराजिन' (1950), कैलाशनाथ काटजू की 'मैं भूल नहीं सकता' (1955), 'प्रेमनारायण टण्डन की 'रेखाचित्र' (1959), इन्द्र विद्यावाचस्पति की 'मैं इनका ऋणी हूँ' (1959), विनोदशंकर व्यास की 'प्रसाद और उनके समकालीन' (1960), संपूर्णानन्द की 'कुछ स्मृतियाँ और स्फुट विचार' (1962), पद्मिनी मेनन की 'चाँद' (1969) परिपूर्णानन्द की 'बीती बातें' (1976), कृष्णा सोबती की 'हम हशमत' (1977) विष्णु प्रभाकर की 'मेरे अग्रज : मेरे मीत' (1983), फणीश्वरनाथ रेणु की 'वन तुलसी की गंध' (1984) अन्य उल्लेख कृतियाँ हैं।

संस्मरण साहित्य की सबसे अनमोल निधि वे पत्र-पत्रिकाएँ हैं जिनमें ये नियमित रूप से प्रकाशित होते रहे हैं। 'सरस्वती' में मनोरंजक संस्मरण, नई धारा में 'मुझे याद है', धर्मयुग में 'एक दिन की बात', 'अविस्मरणीय', 'जब मैं सोलह साल की थी' आदि शीर्षकों के अन्तर्गत अनेक संस्मरण प्रकाशित हुए।

समकालीन हिंदी साहित्य

समकालीन नाटक

1960 के बाद नाटक अन्य विधाओं की अपेक्षाकृत कम ही लिखे गए। नाटक को अभिनय, संगीत, नृत्य तथा अन्य दृश्यकलाओं से समन्वित होना पड़ता है। इस कारण यह जटिल विधा है। वर्तमान समय की गहनतर होती अनुभूतियाँ का प्रस्तुतिकरण तथा तदनु रूप बड़ी नाट्यमंडलियों के अभाव के कारण यह विधा अपेक्षित वृद्धि नहीं पा सकी। फिर भी पिछले दो दशकों में हिंदी नाटक में नएपन तथा प्रयोगशीलता ने नई नाट्य-भूमि की खोज की है। मोहन राकेश के बाद हिंदी नाटक निराशा और पराजय बोध के संसार से निकला है। उनके बाद अनेक नाटककार नाट्य क्षेत्र में आए जिन्होंने नई टेकनीक, नई रंग सृष्टि और प्रयोगधर्मिता के आधार पर नाट्य सृजन की संभावनाओं को जीवन्त कर दिया। इन नाटककारों ने जीवन की असंगतियों, अन्तर्विरोधों, तनावों, जटिल परिवेशगत स्थितियों को नए रूपतन्त्र के कौशल से नाटकों में अभिव्यक्ति दी। इस दृष्टि से भीष्म साहनी के 'हानुश', 'कबीरा खड़ा बाजार में', सर्वेश्वरदयाल सक्सेना 'बकरी', 'लड़ाई', 'कल भात आयेगा', ज्ञानदेव अग्निहोत्री के 'शतुरमुर्ग', मणिमधुकर के 'रसगन्धर्व', 'लक्ष्मीनारायणलाल के 'मि. अभिमन्यु', 'अब्दुल्ला दीवाना', मुद्राराक्षस के 'मरजीवा', 'तेंदुआ', सुशील कुमार सिंह के 'सिंहासन खाली है', शंकर शेष के 'एक और द्रोणाचार्य', दयाप्रकाश सिन्हा के 'कथा एक कंस की', सुरेन्द्र वर्मा के 'सूर्य की अन्तिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक', 'सेतुबन्ध', 'आठवां सर्ग', मृदुला गर्ग के 'एक और अजनबी' आदि उल्लेखनीय हैं।

सन् साठ के बाद उपजे मोहभंग और संबंधों की अर्थहीनता ने जीवन के पुराने गणित को गलत ठहराया है। इस दृष्टि से जगदीशचन्द्र माथुर ने 'शारदीया' लक्ष्मीनारायण लाल ने 'करफ्यू', 'व्यक्तिगत', 'सगुन पंछी', सुरेन्द्र वर्मा ने 'द्रोपदी', गिरिराज किशोर ने 'नरमेघ', मणिमधुकर ने 'दुलारीबाई', सुशील कुमार सिंह ने 'यार चारों की चार', मुद्राराक्षस ने 'तिलचट्टा', 'योर्स फेथफुली', 'गुफाएँ', 'सन्तोला', विष्णु प्रभाकर ने 'अब और नहीं', रामकुमार भ्रमर ने 'तमाशा', पृथ्वीनाथ शास्त्री ने 'क्रीडनक', शोभना भूटानी ने 'शायद हां' में नई व्यंग्य दृष्टि दी है।

कुछ ऐतिहासिक एवं पौराणिक कथाओं के माध्यम से भारतीयों की अस्मिता को खोज का प्रयास भी किया गया। इनमें शंकर शेष के 'खजुराहो का शिल्पी', दयाप्रकाश का 'इतिहास-चक्र', लक्ष्मीनारायण भारद्वाज का 'अश्वत्थामा', जयशंकर त्रिपाठी का 'कुरुक्षेत्र का सवेरा', लक्ष्मीनारायण लाल का 'राम की लड़ाई', 'नरसिंह कथा', 'एक सत्य हरिश्चन्द्र', गिरिराज किशोर का 'प्रजा ही रहने दो', नरेन्द्र कोहली का 'शंबूक की हत्या', सुरेन्द्र वर्मा का 'छोटे सैयद बड़े सैयद', 'आठवां सर्ग' उल्लेखनीय हैं।

राजनीति की सिद्धान्तहीनता, अवसरवादिता, सरलीकरण और बौद्धिक दिवालियेपन ने आदमी का झकझोर दिया। इसका प्रभाव नाटककारों पर भी पड़ा। राजनीतिक संस्थाओं की मक्कारी को इंगित करते हुए डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल ने 'रक्त कमल', 'चतुर्भुज राक्षस', 'पंचपुरुष', 'गंगा माटी', संतोष कुमार नौटियाल ने 'चाय पार्टियाँ', कणाद ऋषि भटनागर ने 'जहर', 'जनता का

सेवक', ज्ञानदेव अग्निहोत्री ने 'शुतुरमुर्ग', सुशील कुमार सिंह ने 'नागपाश', शरद जोशी ने 'एक था गधा उर्फ अलादाद खां', 'अन्धों का हाथी', शंकर शेष ने 'फंदी', 'बन्धन अपने-अपने', मणिमधुकर ने 'बुलबुल सराय', 'खेला पालमपुर', कुसुम कुमार ने 'रावण', 'ओम क्रान्ति क्रान्ति', 'दिल्ली ऊँचा सुनती है', रमेश उपाध्याय ने 'पेपरवेट' आदि नाटक लिखे।

समकालीन कहानी

सन् 1970 तक पहुँचते-पहुँचते हिंदी कहानी ने साहित्य के अन्य रूपों की तुलना में केंद्रीय स्थान बना लिया है। राजनीतिक, सामाजिक भटकाव की स्थिति में नई पीढ़ी के सृजनात्मक एवं मानसिक स्तर को उन्नत किया है। पुरानी पीढ़ी की मानसिकता के इनके मूल्य एकदम भिन्न हैं। आठवें दशक के कहानीकारों ने जीवन के विविध, अंतरंग और तनावपूर्ण छवियों के जो चित्र 'यथार्थ' रूप में अंकित किए हैं वो पुरानी पीढ़ी से एकदम अलग हैं। ये पिछली पीढ़ी की तरह तकलीफों से भागते नहीं हैं, उन्हें काबू में लाकर भोगते हैं। अब इस कहानी का स्वर अस्तित्ववादी न रहकर मानववादी हो गया है।

समकालीन कहानी जिसे नई कहानी भी कहा गया है, में नगरबोध की प्रवृत्ति प्रमुखता से व्यक्त हुई है। आज के नगरीय जीवन में पाई जाने वाली सतही सहानुभूति, आन्तरिक ईर्ष्या, स्वार्थपरता, जीवन की कृत्रिमता आदि की अभिव्यक्ति कमलेश्वर, निर्मल वर्मा, अमरकान्त की कहानियों में देखी जा सकती है। आधुनिक बोध से उत्पन्न अकेलेपन एवं रिक्तता की अनुभूति, युगीन संक्रमण एवं तनाव को भी उसमें अभिव्यक्त किया गया है। नई कहानी को समृद्ध करने में हिंदी कथा लेखिकाओं का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। उषा प्रियंवदा, मन्नू भण्डारी, कृष्णा सोबती, शिवानी, मेहरुन्सिसा परवेज एवं रजनी पनिकर जैसी कहानी लेखिकाओं ने पति-पत्नी एवं नारी पुरुष संबंधों को अपनी कहानियों में प्रमुख से अभिव्यक्त किया है। मैं हार गई, त्रिशंकु, तीन निगाहों की एक तस्वीर, यही सच है – आदि मन्नू भण्डारी के कहानी संग्रह हैं।

प्रेम और विवाह के कटु-मधुर संबंधों का चित्रण भी नए कहानीकारों ने किया है। कमलेश्वर की 'बयान', 'राजा निरबंसिया', राजेन्द्र यादव की 'टूटना', 'मन्नू भण्डारी' की 'यही सच है' और मोहन राकेश की 'अपरिचित' कहानियाँ इस दृष्टि से उल्लेखनीय हैं। मोहन राकेश की 'मिसपाल', कमलेश्वर की 'तलाश', उषा प्रियंवदा की 'छुट्टी का दिन', अमरकान्त की 'जिन्दगी और जोंक' कहानियाँ टूटी हुई नारी या टूटे हुए पुरुष की कहानियाँ हैं।

नए कहानीकारों में कुछ चर्चित नाम हैं – महीप सिंह, दिनेश पालीवाल, राजकुमार भ्रमर, नरेन्द्र कोहली, गोविन्द मिश्र, श्रद्धा कुमार, ममता कालिया, निरूपमा सोवती, दीप्ति खण्डेलवाल आदि। यद्यपि यह सूची किसी भी सीमा तक और बढ़ सकती है। नई कहानी हिंदी कथा विकास यात्रा की एक उपलब्धि है। नई कहानी में मूल्यहीनता न होकर मूल्यों का परिवर्तन है। नई कहानी किसी एक क्षण या एक स्थिति या एक संवेदना को व्यक्त करने वाली कहानी है। मानव की दृष्टि बदलने के साथ ही नई कहानी का शिल्प भी बदला है।

समकालीन हिंदी साहित्य में कई कहानी आंदोलन भी हुए जिनमें नई कहानी, सचेतन कहानी (महीप सिंह), अचेतन कहानी, साठोत्तरी कहानी, अकहानी (निर्मल वर्मा), समानान्तर कहानी

(कमलेश्वर), समकालीन कहानी (डॉ. गंगा प्रसाद विमल), जनवादी कहानी, सक्रिय कहानी, जन कहानी जादि प्रमुख हैं। कुछ प्रमुख कहानीकार और उनकी प्रमुख कहानियाँ इस प्रकार हैं – मृदुला गर्ग (दुनिया का कायदा, उसका विद्रोह, डेफोडिल जल रहे हैं), मंजुल भगत (सफेद कौआ, मृत्यु की ओर), मणिका मोहिनी (हम बुरे नहीं थे), मार्कण्डेय (हंसा जाई अकेला), राजी सेठ (तीसरी हथेली), ज्ञानरंजन (सम्बन्ध, शेष होते हुए), ओम गोस्वामी (दर्द की मछली), महेन्द्र भल्ला (एक पति के नोट्स, तीन चार दिन), गिरिराज किशोर (पेपर वेट, वल्दरोजी), उदयप्रकाश (तिरिछ, पीली छतरी वाली लड़की, दत्तात्रेय का दुःख, पाल गोमरा का स्कूटर और मैं प्रार्थना, दरियाई घोड़ा), धीरेन्द्र अस्थाना (उस रात की गन्ध, नींद के बाहर), ममता कालिया (बोलने वाली औरत), नमिता सिंह (राजा का चौक, जंगलगाथा, निकम्मा लड़का, नीलगाय की आँखें), बटरोही (हिडिम्बा के गाँव में), अखिलेश (मुक्ति), अब्दुल बिस्मिल्लाह (रैन बसेरा), सर्वेश्वरदयाल सक्सेना (क्षितिज के पार, बदला हुआ कोण, पराजय का क्षण), सुरेन्द्र वर्मा (प्यार की बातें तथा अन्य कहानियाँ), शिवप्रसाद सिंह (अंधकूप, एक यात्रा सतह के नीचे), रामदरश मिश्र (दिन के साथ), दिनेशनंदिनी डालमिया (तितिक्षा), राजेन्द्र उपाध्याय (ऐश ट्रे), महेन्द्र वशिष्ठ (उसकी कहानी), मालती जोशी (रहिमन धागा प्रेम का) आदि। समय परिवर्तनशील है, भविष्य के गर्भ में अभी और कई रहस्य छिपे हैं, जो समय-समय पर और मुखरित होंगे।

समकालीन उपन्यास

समकालीन दौर का अधिकांश लेखन व्यक्ति-केन्द्रित रहा और रचनाकार व्यक्ति के माध्यम से समय और समाज के हालत हो सामने लाया है। इस प्रवृत्ति का सर्वाधिक मुखर अभिव्यक्ति 'गोबर गणेश', 'किस्सा गुलाम', 'आपका बन्टी' जैसे उपन्यासों में हुआ है। नए उपन्यासकारों में बौद्धिकता है एवं हर विषय को बौद्धिकता की कसौटी पर कसने और निश्चित राय देने की सामर्थ्य दिखाई देती है। आज के उपन्यासों में दैहिक भौतिक संबंधों का बहुत बारीकी से परीक्षण किया गया है। पति-पत्नी के बीच तनाव आ जाने और आपसी संबंधों के टूट जाने की विषयवस्तु भी कई उपन्यासों के केंद्र में रही है। इस काल खण्ड में हिंदी उपन्यासों में नौकरीपेशा मध्यवर्ग के लोगों की शहरी जिंदगी में आ जाने से जागरूक उपन्यासकारों ने आंचलिक उपन्यास खूब लिखे। महानगरीय जीवन की यंत्रणा और खोखलेपन को उभारने वाले उपन्यास भी पर्याप्त मात्रा में लिखे गए। कुल मिलाकर जीवन के फैलाव, सामाजिक-आर्थिक विषमता, राजनीतिक-जीवन की अराजकता, विद्रूपता, मूल्यहीनता, भ्रष्टाचार को लेकर भारी मात्रा में उपन्यास लिखे गए। समकालीन कुछ प्रमुख उपन्यासकार एवं उनके उपन्यास इस प्रकार हैं – मृदुला गर्ग (चित्त कोबरा, उसके हिस्से की धूप, वंशज, अनित्य), निर्मल वर्मा (वे दिन, लाल टीन की छत), श्रीकान्त वर्मा (दूसरी बार), राजकमल चौधरी (मछली मरी हुई), यशपाल (क्यों फँसे ?) गोविन्द मिश्र (वह अपना चेहरा), मनोहरश्याम जोशी (कुरु-कुरु स्वाहा, कसप), कृष्णा सोबती (सूरजमुखी अंधेरे के), भीष्म साहनी (कड़ियाँ), गिरिराज किशोर (चिड़ियाघर), लक्ष्मीकान्त वर्मा (टैराकोटा), श्रीलाल शुक्ल (राग दरबारी), राही मासूम रजा (आधा गाँव, टोपी शुक्ला, हिम्मत जौनपुरी), श्याम व्यास (एक प्यासा तालाब), ओम प्रकाश दीपक (कुछ जिन्दगियाँ बेमतलब), कृष्णा सोबती (सूरजमुखी अंधेरे के, यारों की यार, मित्रो

मरजानी, डार से बिछुड़ी, जिन्दगीनामा, ए लड़की), रमेश शाह (गोबर गणेश), यशपाल (झूठा सच, तेरी मेरी उसकी बात), मणि मधुकर (सफेद मेमने), नरेन्द्र कोहली (दीक्षा), प्रभाकर माचवे (परन्तु, क्षमा, सांचा), देवराज (पथ की खोज, अजय की डायरी, मैं वे और आप, रोड़े का पत्थर, बाहर भीतर), कमलेश्वर (सुबह दोपहर शाम, काली आंधी, तीसरा आदमी, अगामी अतीत, समुद्र में खोया हुआ आदमी), यादवेन्द्र शर्मा 'चन्द्र' (पथहीन, दिया जला दिया बुझा, गुनाहों की देवी, मैं रानी सुप्यार दे, मरु केसरी), शैलेश मटियानी (बोरीवली से बोरी बन्दर), बदी उज्जमा (एक चूहे की मौत), काशीनाथ सिंह (अपना मोर्चा), रमेश बक्षी (बैसाखियों वाली इमारत), राजकृष्ण मिश्र (काउंसिल हाउस, दारुल शफा, मन्त्रिमण्डल, कुतो मनुष्य), महीप सिंह (अभी शेष है), ज्ञान प्रकाश विवेक (गली नम्बर तेरह), ममता कालिया (बेघर, दौड़), शीतांशु भारद्वाज (फिर वही बेखुदी, डॉ. आनन्द, एक और अनेक), तरसेम गुजराल (जलता हुआ गुलाब) आदि।

समकालीन निबंध

आज निबंध परंपरा अधिक एकाग्र और प्रधान विधा के रूप में गतिशील है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की निबंध परंपरा का विकास यहाँ अवरुद्ध न होकर नई चिन्तन पद्धतियों को अभिव्यक्ति मिली है। अज्ञेय, विद्यानिवास मिश्र, कुबेरनाथ राय, निर्मल वर्मा, रमेशचन्द्र शाह, शरद जोशी, जानकीवल्लभ शास्त्री, रामेश्वर शुक्ल 'अंचल', नेमिचन्द्र जैन, विष्णु प्रभाकर, जगदीश चतुर्वेदी, डॉ. देवराज, डॉ. नामवरसिंह, विवेकीराय आदि ने हिंदी निबंध परंपरा को न केवल आगे बढ़ाया बल्कि उसमें कुछ ऐसे विशिष्ट प्रयोग किए जो हिंदी निबंध को नई ऊर्जा प्रदान करते हैं। अज्ञेय जी के निबंधों ने पाठकों का ध्यान सर्वाधिक आकर्षित किया। उनके समीक्षात्मक निबंध बेजोड़ हैं। इनके निबंध संग्रह हैं 'आत्मपरक' (1983), 'केन्द्र और परिधि' (1984), 'सर्जना और सन्दर्भ' (1985), 'स्मृति लेखा' (1982), 'कहाँ है द्वारिका' (1982) आदि। विद्यानिवास मिश्र ने शिक्षा, संस्कृति और साहित्य के क्षेत्र में ललित निबंध लिखे हैं। हिन्दू धर्म : जीवन में सनातन की खोज-भूमिका, परम्परा बन्धन नहीं, मेरे राम का मुकुट भीग रहा है, वसन्त आ गया पर कोई उत्कंठा नहीं, कंटीले तारों के आर-पार, संचारिणी, कौन तू फुलवा बीनन हारी, अस्मिता के लिए, भ्रमरानन्द के पत्र, अंगद की नियति, चितवन की छांह, कदम की फूली डाल, तुम चन्दन हम पानी, आंगन का पंछी और बंजारा मन, मैंने सिल पहुँचाई, साहित्य की चेतना, महाभारत का काव्यार्थ, लागौ रंग हरी तथा अग्निरथ इनके निबंध संग्रह हैं।

समीक्षात्मक निबंधों में अपनी प्रखर बौद्धिकता के क्षेत्र में सबसे प्रबल निबंधकार हैं — गजानन माधव मुक्तिबोध। मुक्तिबोध ने 'नयी कविता का आत्मसंघर्ष', 'नये साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र', 'समीक्षा की समस्याएँ' तथा 'एक साहित्यिक की डायरी' नामक निबन्ध संग्रहों से नई समीक्षा को गति दी। नए निबंधकारों में विजयदेवनारायण साही की भूमिका भी उल्लेखनीय है। उनके निबंध 'लघुमानव के बहाने हिन्दी कविता पर एक बहस' ने सभी का ध्यान आकृष्ट किया। निर्मल वर्मा जी ने भी हिंदी निबंध को नया रूप-रंग दिया। इन निबंधों में उनकी सृजनात्मक बौद्धिक यात्राओं का एक रोमांचक संसार है। इनके निबंध संग्रह हैं — 'शब्द और स्मृति', तथा

‘कला का जोखिम’। नेमिचन्द्र जैन ने निर्मल जी से हट कर निबंध लिखे। उनके ‘अधूरे साक्षात्कार’, ‘रंगदर्शन’, ‘बदलते परिप्रेक्ष्य’, तथा ‘जनान्तिक’ के समीक्षात्मक निबंधों ने एक अलग पहचान बनाई।

रामविलास शर्मा की निबन्ध शैली हिंदी-गद्य में स्वच्छता, प्रखरता और वैचारिकता लिए हुए है। ‘विराम चिह्न’, ‘मार्क्सवाद और प्रगतिशील साहित्य’, ‘परम्परा का मूल्यांकन’, ‘मानव सभ्यता का विकास’, ‘भाषा युग बोध और कविता’, ‘कथा-‘विवेचना और गद्य शिल्प’, ‘मार्क्स और पिछड़े हुए समाज’ जैसे निबंध संग्रह लिखे। हिंदी व्यंग्य साहित्य भी प्रगति कर रहा है। इस क्षेत्र में कुबेरनाथ राय, विवेकीराय, शरद जोशी, रवीन्द्र कालिया आदि ने हिंदी निबंध की एक समर्थ व्यंग्य-शैली विकसित की है।

युवा निबन्धकारों में प्रभाकर श्रोत्रिय, चन्द्रकान्त वांदिवडेकर, नन्दकिशोर आचार्य, बनवारी कृष्णदत्त पालीवाल, प्रदीप मांडव, कर्ण सिंह चौहान, चंचल चौहान, ज्ञानरंजन, केदारनाथ अग्रवाल, लक्ष्मीचन्द्र, विवेकीराय जैसे बहुत से महत्त्वपूर्ण निबंधकार इस दौर में उभरे हैं। राजनीतिक-सांस्कृतिक विषयों पर चिन्तन की ताजगी से निबंध लिखना इन नए निबंधकारों की विशिष्ट प्रवृत्ति है।

...

परिशिष्ट

कुछ प्रमुख साहित्यिक विधाओं की परिभाषाएँ एवं स्मरणीय तथ्य –

(क) **छायावाद** – छायावाद का विकास द्विवेदीयुगीन कविता के बाद हुआ। छायावादी काव्य की समय सीमा मोटे रूप से 1918 ई. से 1936 ई. तक मानी जा सकती है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार – “छायावाद शब्द का प्रयोग दो अर्थों में समझना चाहिए एक तो रहस्यवाद के अर्थ में, जहाँ उसका संबंध काव्य वस्तु से होता है, अर्थात् जहाँ कवि उस अनन्त और अज्ञात प्रियतम को आलम्बन बनाकर अत्यन्त चित्रमयी भाषा में प्रेम की अनेक प्रकार से व्यंजना करता है।.....छायावाद शब्द का दूसरा प्रयोग काव्य शैली या पद्धति विशेष के व्यापक अर्थ में है।”

जयशंकर प्रसाद के अनुसार – “जब वेदना के आधार पर स्वानुभूतिमयी अभिव्यक्ति होने लगी तब हिंदी में उसे ‘छायावाद’ के नाम से अभिहित किया गया। ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता, सौंदर्यामय प्रतीक विधान तथा उपचार वक्रता के साथ स्वानुभूति की विवृति छायावाद की विशेषताएँ हैं।”

डॉ. नगेन्द्र के अनुसार – “छायावाद स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह है। छायावाद एक विशेष प्रकार की भाव पद्धति है, जीवन के प्रति एक विशेष भावात्मक दृष्टिकोण है।”

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार – “छायावाद के मूल में पाश्चात्य रहस्यवादी भावना अवश्य थी। इस श्रेणी की मूल प्रेरणा अंग्रेजी की रोमांटिक भाव धारा की कविता से प्राप्त हुई थी।”

डॉ. रामविलास शर्मा के शब्दों में – “छायावाद स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह नहीं रहा, वरन् थोथी नैतिकता, रूढ़िवाद और सामन्ती साम्राज्यवादी बंधनों के प्रति विद्रोह रहा है।”

(ख) **प्रगतिवाद** – प्रगतिवाद का प्रारंभ सन् 1936 ई. से 1943 ई. तक माना जाता है। प्रगतिवाद के इन कवियों ने साम्यवाद को आधार बनाया।

(ग) **प्रयोगवाद और नई कविता** – प्रयोगवाद का प्रारंभ 1943 ई. में ‘अज्ञेय’ द्वारा संपादित ‘तार-सप्तक’ के प्रकाशन से माना जाता है। प्रयोगवादी कवि प्रयोग करने में विश्वास करते हैं। भाषा की दृष्टि से नए प्रयोग, उपमानों की दृष्टि से नए प्रयोग, शिल्प की दृष्टि से नए प्रयोग और काव्य वस्तु की दृष्टि से नए प्रयोग करना। अज्ञेय ने प्रयोग को साध्य नहीं साधन माना है। अज्ञेय के अनुसार – “प्रयोग अपने आप में इष्ट नहीं है, वरन् वह साधन है।

(घ) **नई कविता** – प्रयोगवाद का विकास ही कालान्तर में नई कविता के रूप में हुआ है। डॉ. शिवकुमार शर्मा के अनुसार – “ये दोनों एक ही धारा के विकास की दो अवस्थाएँ हैं। सन् 1943 से 1953 ई. तक कविता में जो नवीन प्रयोग हुए, नई कविता उन्हीं का परिणाम है। प्रयोगवाद उस काव्यधारा की आरम्भिक अवस्था है और नई कविता उसकी विकसित अवस्था।”

(ङ) **समकालीन कविता** – सन् 1960 के बाद की कविता को समकालीन कविता कहा गया। इस युग में कई काव्य धाराएँ परस्पर समानान्तर एक-दूसरे को काटती हुई सी प्रतीत हो रही थी। समकालीन कविता उन्हीं अनुभूतियों को अभिव्यक्ति देती है जो जीवन की निर्भय वास्तविकताओं से मन में उभरती हैं।

(च) **निबंध** – हिंदी निबंध शब्द पर विचार करते हुए कहा जा सकता है कि निबंध संस्कृत भाषा का शब्द है। निबंध शब्द संस्कृत की धातु नि+बन्ध+ल्युट से बना है, जिसका अर्थ है ऐसी रचना जिसमें विचार बाँधा या गूँथा जाता है।

बेकन के अनुसार – “निबन्ध विचारों का वह संक्षिप्त विवेचन है जिसमें बुद्धि तत्व की प्रधानता होती है।”

डॉ. गुलाबराय – “निबंध उस गद्य रचना को कहते हैं जिसमें एक सीमित आकार के भीतर किसी विषय का वर्णन या प्रतिपादन एक विशेष निजीपन, स्वच्छन्दता, सौष्टव और सजीवता साथ ही आवश्यक संगति और सुसंबद्धता के साथ किया गया हो।”

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल – “आधुनिक पाश्चात्य लक्षणों के अनुसार निबन्ध उसी को कहना चाहिए जिसमें व्यक्तित्व अथवा व्यक्तिगत विशेषता हो।”

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी – “असम्पूर्णता का विचार न करने वाला गद्य रचना का वह प्रकार जिसमें स्वानुभूति की प्रधानता हो, विषय निरूपण में स्वतंत्रता हो, जिसमें लेखक का व्यक्तित्व पूर्ण रूप से प्रतिबिम्बित हो, जिसकी शैली मौलिक तथा साहित्य कोटि की हो, निबंध कहलाएगा।”

- (छ) **उपन्यास** – उपन्यास का मूल अर्थ है – निकट रखी वस्तु (उप अर्थात् निकट, न्यास अर्थात् रखी हुई), किन्तु आधुनिक युग में इसका प्रयोग साहित्य के एक ऐसे रूप विशेष के लिए होता है, जिसमें एक दीर्घ कथा का वर्णन गद्य में किया जाता है। आधुनिक युग में उपन्यास शब्द अंग्रेजी के Novel के अर्थ में प्रयुक्त होता है, जिसका अर्थ एक दीर्घ कथात्मक गद्य रचना। उपन्यास वह वृहत् आकार का गद्य आख्यान या वृत्तान्त होता है जिसके अन्तर्गत वास्तविक जीवन के प्रतिनिधित्व का दावा करने वाले पात्रों और कार्यों का चित्रण किया जाता है। गुजराती में 'नवल कथा', मराठी में 'कादम्बरी' एवं बंगला में 'उपन्यास' शब्द का प्रयोग भी अंग्रेजी के 'नॉवेल' के अर्थ में ही किया जाता है।
- (ज) **कहानी** – उपन्यास और कहानी दोनों में ही कथा तत्व विद्यमान होता है, अतः प्रारंभ में लोगों की यह धारणा थी कि उपन्यास और कहानी में केवल आकार का ही भेद है, किन्तु अब यह धारणा निर्मूल हो चुकी है। वास्तव में कहानी में जीवन के किसी एक अंग या संवेदना की अभिव्यक्ति होती है जबकि उपन्यास में जीवन की समग्रता का अंकन किया जाता है। कहानी की मूल आत्मा 'एक संवेदना या एक प्रभाव' है। ब्लेट्ज हेमिंगटन के अनुसार – "कम से कम शब्दों में एक विशिष्ट प्रभाव को प्रकट करना ही कहानी है।" अज्ञेय के अनुसार – "कहानी एक सूक्ष्मदर्शी यन्त्र है जिसके नीचे मानवीय अस्तित्व के दृश्य खुलते हैं।"
- (झ) **नई कहानी** – नए कहानीकारों ने जीवन को यथार्थ रूप में देखने-समझने का प्रयास किया है। नई कहानी भोगे हुए यथार्थ से जुड़ी है, इसलिए वह अधिक प्रामाणिक है। आधुनिक मानव के जीवन को विविध कोणों से देखकर उसका सही परिप्रेक्ष्य में चित्रण करने का प्रयास इन कहानीकारों ने किया है।
 डॉ. नामवर सिंह के अनुसार – "अभी तक जो कहानी सिर्फ कथा कहती थी, या कोई चरित्र पेश करती थी अथवा एक विचार को झटका देती थी, वह जीवन के प्रति एक नया भाव-बोध जगाती है। नई कहानी में विषयों की विविधता के साथ-साथ शिल्प का नयापन भी विद्यमान है। उसमें प्रभावान्विति पर इतना जोर नहीं है जितना जीवन के संश्लिष्ट खण्ड में व्याप्त संवेदना पर है। नया कहानीकार किसी दार्शनिक, सामाजिक अथवा राजनीतिक विचारधारा से प्रतिबद्ध न होकर विशुद्ध अनुभूति की सच्चाई और विषय की यथार्थता के प्रति प्रतिबद्ध होता है।
 कमलेश्वर के अनुसार – "पुरानी और नई कहानी के बीच बदलाव का बिन्दु है – 'नई वैचारिक दृष्टि'।"
 डॉ. गणपतिचन्द्र गुप्त के अनुसार – "नई कहानी का सबसे बड़ा वैशिष्ट्य है – कथा तत्व का ह्रास, नया कहानीकार कथानक को महत्त्व नहीं देता।"

मार्कण्डेय के अनुसार – “नई कहानी से हमारा मतलब उन कहानियों से है जो सच्चे अर्थों में कलात्मक निर्माण हैं, जो जीवन के लिए उपयोगी हैं और महत्त्वपूर्ण होने के साथ ही, उसके किसी-न-किसी नए पहलू पर आधारित हैं।”

- (ज) **सचेतन कहानी** – सन् 1964 के आसपास महीपसिंह द्वारा इसका प्रवर्तन किया गया। सचेतन कहानी में वैचारिकता को विशेष महत्त्व दिया गया।
- (ट) **अकहानी** – 1960 के लगभग कुछ ऐसे कथाकार सामने आए जिन्होंने कहानी के स्वीकृत मूल्यों के प्रति निषेध व्यक्त करते हुए अपने स्वतन्त्र अस्तित्व की घोषणा की। निर्मल वर्मा को इस कहानी आंदोलन का प्रवर्तन माना गया।
- (ठ) **समानान्तर कहानी** – इस आंदोलन के सूत्रधार कमलेश्वर हैं जिन्होंने 1971 के लगभग समानान्तर कहानी का प्रवर्तन किया। इस प्रकार की कहानियों में निम्नवर्गीय समाज की स्थितियों, विषमताओं एवं समस्याओं का खुलकर चित्रण हुआ। ‘सारिका’ पत्रिका ने इस प्रकार की कहानियों का एक आंदोलन खड़ा किया।

...

अभ्यास प्रश्न –

वस्तुनिष्ठ प्रश्न –

1. महावीर प्रसाद द्विवेदी ने सरस्वती पत्रिका का सम्पादन भार कब से सँभाला था ?
(क) 1900 ई. (ख) 1920 ई. (ग) 1903 ई. (घ) 1910 ई.
2. विवाह मुक्ति एवं पुनर्विवाह की समस्या को प्रसाद जी ने किस नाटक में प्रस्तुत किया ?
(क) चन्द्रगुप्त (ख) ध्रुवस्वामिनी (ग) स्कन्दगुप्त (घ) विशाख
3. ‘अरुण यह मधुमय देश हमारा’ नामक गीत प्रसाद के किस नाटक का है ?
(क) स्कन्द गुप्त (ख) ध्रुवस्वामिनी (ग) चन्द्रगुप्त (घ) चाणक्य
4. इनमें से कौन-सा उपन्यास सबसे पहले लिखा गया ?
(क) दिल्ली का दलाल (ख) सेवासदन (ग) ठेठ हिन्दी का ठाठ (घ) चन्द्रकान्ता
5. ‘टोपी शुक्ला’ किसकी कृति है ?
(क) राही मासूम रजा (ख) मनोहरश्याम जोशी (ग) धर्मवीर भारती (घ) पाण्डेय बेचन शर्मा
6. जैनेन्द्र का पहला उपन्यास है ?
(क) सुनीता (ख) त्यागपत्र (ग) परख (घ) कल्याणी
7. ‘झूठा सच’ का प्रकाशन वर्ष है –
(क) 1947 ई. (ख) 1957 ई. (ग) 1960 ई. (घ) 1968 ई.
8. ‘लखनऊ मेरा लखनऊ’ के लेखक इनमें से कौन है ?
(क) रामदरश मिश्र (ख) अमृतलाल नागर (ग) मनोहरश्याम जोशी (घ) भगवतीचरण वर्मा
9. हिन्दी का सांस्कृतिक उपन्यासकार इनमें से कौन है ?

- (क) अज्ञेय (ख) धर्मवीर भारती (ग) हजारी प्रसाद द्विवेदी (घ) जयशंकर प्रसाद
10. 'राई और पर्वत' उपन्यास के लेखक हैं –
(क) निर्मल वर्मा (ख) रांघेय राघव (ग) गिरधर गोपाल (घ) नरेन्द्र कोहली
11. इनमें से कौन-सा उपन्यास इलाचन्द्र जोशी का नहीं है ?
(क) जहाज का पंछी (ख) पर्दे की रानी (ग) व्यतीत (घ) ऋतुचक्र
12. गणेश शंकर विद्यार्थी किस युग के निबंधकार हैं ?
(क) भारतेन्दु युग (ख) द्विवेदी युग (ग) शुक्ल युग (घ) शुक्लोत्तर युग
13. विद्यानिवास मिश्र का निबंध संग्रह 'तुम चन्दन हम पानी' कब प्रकाशित हुआ ?
(क) 1953 ई. (ख) 1957 ई. (ग) 1960 ई. (घ) 1965 ई.
14. इतिहास और संस्कृति की पृष्ठभूमि में लिखने वाला निबंधकार इनमें से कौन है ?
(क) भगवतशरण उपाध्याय (ख) रामवृक्ष बेनीपुरी (ग) हजारी प्रसाद द्विवेदी (घ) कुबेरनाथ राय
15. 'चीड़ों पर चाँदनी' के रचनाकार कौन हैं ?
(क) यशपाल (ख) डॉ. रघुवंश (ग) निर्मल वर्मा (घ) डॉ. नगेन्द्र

अति लघूत्तरात्मक प्रश्न –

1. भारतेन्दु के पिता का क्या नाम था ?
2. भारतेन्दु ने कौन-सी पत्रिका निकाली ?
3. 'रामायण महानाटक' के रचयिता कौन हैं ?
4. 'एकान्तवासी योगी' किसकी रचना है ?
5. 'मंगलाप्रसाद पारितोषिक' पुरस्कार किसे प्रदान किया गया ?

लघूत्तरात्मक प्रश्न –

1. भारतेन्दु युग के निबंधकारों के नाम लिखिए।
2. आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी की रचनाओं के नाम लिखिए।
3. जयशंकर प्रसाद द्वारा रचित नाटकों के नाम लिखिए।
4. छायावादी कवियों के नाम लिखिए।
5. 'प्रथम तार सप्तक' के कवियों के नाम लिखिए।

निबंधात्मक प्रश्न –

1. भारतेन्दु युगीन निबंधकारों का परिचय दीजिए।
2. आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी युग की विशेषताएँ बताइए।
3. छायावादी काव्य एवं काव्यकारों पर एक टिप्पणी लिखिए।
4. प्रगतिवादी काव्य के कवियों का परिचय दीजिए।
5. समकालीन हिंदी कहानी पर सारगर्भित टिप्पणी लिखिए।

...